"ओ३म्"

धरती का स्वर्ग

गृहस्थाश्रम

पं० शिवकुमार शास्त्री
(संसद् सदस्य)

दयानन्द संस्थान

वैदिक पुस्तकालय मुम्बई

धरती का स्वर्ग

आचार्य धर्मवीर आर्य

सम्पर्क- 9029421718

ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्

ओ३म्

गायत्री-महामन्त्र के अर्थ पर विचार करना चाहिए। इस मन्त्र द्वारा सारे विश्व को उत्पन्न करने वाले परमात्मा का जो उत्तम तेज है, उस का ध्यान करने से बुद्धि की मलिनता दूर हो जाती है और धर्माचरण में श्रद्धा और योग्यता उत्पन्न होती है। दूसरे किसी मत में प्रार्थना के मन्त्रों की ऐसी गहराई और सच्चाई नहीं है।

—महर्षि दयानन्द

॥ ओ३म् ॥

जन-ज्ञान प्रकाशन का १७१वां पुष्प

धरती का स्वर्ग

(अथर्ववेद के स्वर्गसूक्त पर आधारित)

लेखक—
श्री पं० शिवकुमार शास्त्री
काव्य-व्याकरण तीर्थ
सदस्य लोकसभा

प्रकाशक—
जन-ज्ञान प्रकाशन
वेद मन्दिर, दिल्ली-११००३६

महात्मा वेद भिक्षुः स्मृति ग्रन्थमाला

प्रकाशक :
पंडिता राकेशरानी अध्यक्ष,
दयानन्द संस्थान, वेद मन्दिर,
महात्मा वेदभिक्षु: सेवाश्रम अलीपुर दिल्ली-३६
दूरभाष : ५७२२६३९, ५१२४७४१, ८०१२११

मूल्य ३)
सजिल्द मूल्य ७

मुद्रक : आर्यजन प्रिंटिंग एजेन्सी, दिल्ली-६ फोन : ५६०८३८

आनन्द धाम : गृहस्थ

'गृहस्थ आश्रम' आश्रमों का, संसार की सभी गति-विधियों का संचालक है। इसी आश्रम के बल पर ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी अपना व्रत सफलता से निभाते हैं।

विशाल विश्व का यह घटक परिवार कहाता है। इसी परिवार का संचालक गृहस्थाश्रम है। यह आश्रम स्वर्ग भी है, और नरक भी। हिन्दी के मूर्धन्य कवि सन्त तुलसीदास ने लिखा है।

जहां सुमति तहां, सम्पति नाना,
जहां कुमति तहां, विपति निदाना !

परिवार और गृहस्थ को स्वर्ग बनाने का मूल मंत्र है सुमति। जहां संतान आज्ञाकारी है, पति-पत्नी दोनों के हृदय एक हैं, जहां, सब एक के दु:ख को अपना दु:ख और सुख को अपना सुख समझते हैं, वहां स्वर्ग है।

इस स्वर्ग में निवास के लिए सभी तरसते हैं, पर स्वार्थ हमें भटकाता है और हम गृहस्थ को नरक बना लेते हैं परस्पर का प्यार खोकर जीवन में न गति रहती है न आनन्द .....केवल भार ढोने में ही सब लगे रहते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वद्वर्य श्री शिवकुमार जी शास्त्री ने अपने जीवन के अनुभवों और वेद की उदात्त शिक्षाओं के आधार पर गृहस्थ को स्वर्ग बनाने का मार्गदर्शन किया है।

हमें विश्वास है कि इसे पढ़ कर सभी को प्रेरणा मिलेगी और नयी आशा और उमंगों के साथ सभी जीवन का स्वर्णिम अध्याय आरम्भ करने में समर्थ होंगे। मंगल कामनाओं के साथ—

दयानन्द संस्थान
दिल्ली-११००२६

—राकेश रानी
अध्यक्ष

लेखक की ओर से

अनेक बार मैंने फुटकर और व्याख्यान माला के रूप में भी वर्तमान गृहस्थाश्रम की बुराइयों को दूर कर उसे सुखी और स्पृहणीय बनाने के लिए जब-जब विचार प्रकट किये तभी-तभी कुछ मनीषी मित्रों ने उन विचारों को लिखित रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत करने का परामर्श मुझे दिया। यद्यपि लिखने में मैं बहुत आलसी हूं, किन्तु मित्रों की बार-बार की टोकाटाकी ने लिखने के लिए विवश कर दिया और अब से लगभग २० वर्ष पूर्व मैंने इस विषय पर अपने सामाजिक कार्यों के बीच-बीच में यथावकाश लिखना प्रारम्भ कर दिया था।

श्री भाई प्रकाशवीर जी शास्त्री की प्रेरणा ने और कुछ एक दिन एक लेख में दार्शनिक प्लेटो के इस उद्धरण ने, कि The punishment suffered by the wise who refuse to take part in government of badmen: (ऐसे बुद्धिमान् व्यक्ति जो शासन को चलाने में स्वयं भाग नहीं लेते वे दुष्ट मनुष्यों द्वारा शासित होने का दण्ड भोगते हैं)।

मुझे सन् ६२ में राजनीति में सक्रिय भाग लेने के लिए उद्यत कर दिया। राजनीति के अखाड़े में उतरने पर भी मेरी रुचि में तो विशेष अन्तर नहीं आया किन्तु लिखने और मनन करने के लिए जो वातावरण अपेक्षित होता है, वह यहाँ नहीं मिल पाता। इसी मध्य श्री प्रकाशवीर जी शास्त्री और अपने कतिपय मित्रों की प्रेरणा पर सन् (६३ से ६६) तक गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के मुख्याधिष्ठाता पद का दायित्व मैंने संभाला, जिसे मैंने सन् ६७ में लोकसभा के चुनाव में सफल होने के बाद ही छोड़ा। गुरुकुल में रहते हुए भी कुछ लिखना सम्भव न हुआ। क्योंकि आज के वायुमण्डल में आश्रम-मर्यादा के अनुसार संस्थाओं का सफलतापूर्वक चलाना एक राष्ट्र के संचालन के समान ही गुरुतरभार को वहन करना है। जिसके पश्चात् गत १० वर्ष का समय लोकसभा की सदस्यता का है। जिसमें निरर्थक रात-दिन चक्कर काटे हैं और इस भ्रमण का कुछ फल निकला है कि नहीं, मुझे तो कुछ विदित नहीं होता। अस्तु—एक लम्बे समय तक ये विचार इसी प्रकार अघलिखे पड़े रहे।

हां, बीच-बीच में पुराने परिचित मित्र जब कभी मिल जाते तो उस लेखन के विषय में भी पूछ लेते। किसी प्रकार मेरी इस अधूरी रचना की भनक दयानन्द संस्थान के संचालक प्रिय पं० भारतेन्द्र नाथ के कानों में भी पड़ गयी। इन्होंने तो मिलने पर इसको पूरा करने के लिए कहने का नियम-सा ही बना लिया।

एक दिन श्री प्रो० रत्नसिंह जी और पं० भारतेन्द्र नाथ जी दोनों मेरे पास आये और भारतेन्द्र नाथ जी ने अपने स्वभाव के अनुसार इस कृति को पूरा करने का अनुरोध किया। श्री प्रोफेसर साहब ने भी उनके स्वर में स्वर मिलाया और आज की इस प्रेरणा ने वर्षों से टूटे हुए क्रम को जोड़ने और लिखने के लिए मुझे तैयार कर दिया।

अब यह पुस्तिका जो मेरे अध्ययन ही नहीं, अनुभवों के सफल योगों से भी परिपूरित है, आप सभी सद्‌गृहस्थों के लाभार्थ आपकी सेवा में उपस्थित है। मैंने अपनी ओर से प्रत्येक विषय को सरल और सरस बनाने का यत्न किया है। मध्य-मध्य में अपनी स्थापना की पुष्टि के लिए प्रमाण, उदाहरण और दृष्टान्त भी दिये हैं ताकि मस्तिष्क पर उस विषय के संस्कार अंकित हो सकें। भाषा को भी सरल रखने का प्रयत्न किया है ताकि साधारण शिक्षिता बहनों को भी पढ़ने और समझने में कठिनाई न हो।

मेरे इस प्रयत्न के फलस्वरूप यदि कुछ दम्पतियों की हृदय-भूमि में मुरझाई स्नेहलता लहलहा उठी तो, सास-बहू, जेठानी-देवरानी और ननद-भावज के सम्बन्ध मधुर हो सके तो, पुत्रों के हृदय में माता-पिता के प्रति श्रद्धा और निष्ठा जागृत हो गई तो, भाइयों के पारस्परिक सम्बन्ध अधिक उदार और स्नेहमय हो गये तो सांसारिक क्षणिक सुखों का मोहत्याग कर आत्मिक आनन्द को उपलब्ध करने की भावना उद्‌बुद्ध हो गई तो, राष्ट्र के ऊपर आपदा आने पर सर्वस्व होमने की भावना बद्धमूल हुई तो मैं अपने इस श्रम को सफल समझूंगा।

शिवरात्रि : २०३२

—शिवकुमार शास्त्री

(संसद् सदस्य)

समर्पण !

मैं अपने गृहाश्रम के अनुभूत योगों के साररूप इस कृति को
अपनी तपस्विनी सहधर्मिणी श्रीमती सोमलता जी को
सस्नेह कृतज्ञतापूर्वक समर्पित करता हूं। जिन्होंने
सदा सीमित साधनों के होते हुए भी अपने
परिवार को बड़ी कुशलता से चलाया
और अपने सात्विक तथा मृदुल
व्यवहार से मेरे प्रत्येक कार्यक्षेत्र
में मुझे सम्मान और
गौरव का पात्र
बनाया।

—शिवकुमार शास्त्री

सर्वश्रेष्ठ गृहस्थ

अथर्ववेद के चौथे काण्ड के ३४ वें सूक्त का नाम स्वर्गसूक्त है। इस सूक्त में जिस स्वर्ग का वर्णन किया गया है वह मध्य युग की पौराणिक कल्पना के समान कोई आकाश का स्वर्ग नहीं है। अपितु धरती का है और धरती पर भी कोई नगर, उपनगर और ग्राम एवं उसमें वसने वाला कोई घर ऐसा नहीं है जहां वह स्वर्ग विद्यमान न हो। अब आप सोचते होंगे कि ऐसा कौन सा स्वर्ग है? जिसमें हम रहते हैं पर उसे जानते नहीं। तो वेद कहता है कि यह तुम्हारा गृहस्थाश्रम ही स्वर्ग है। कैसा गृहस्थ स्वर्ग होता है? इसे जानने के लिए वेद के स्वर्गीय संगीत में गाये गये इसके अनुपम ठाठ पर एक दृष्टि डालिए।

घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना। एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना उपत्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः। अथर्व० ४।३४।६॥

प्रकाश की-सी ध्वनि वाली, मधु अर्थात् ज्ञान के रक्षा-साधन वाली सुरा अर्थात् तत्त्व मंथन को ग्रहण करने वाली, भोजन-साधन से, वृद्धि साधने से और धारण-पोषण सामर्थ्य से परिपूर्ण सब धारण शक्तियां स्वर्ग लोक में मधु नाम ज्ञान की पूर्णता से, तुझको सींचती हुई, आदर से मिलें और संपूर्ण पोषणवती शक्तियां तुझमें उपस्थित हों। आपाततः इस मन्त्र में (घृतह्रदा) घी के तालाब, (मधुकूलाः) शहद की नहरें आदि कुछ विशेषणों के प्रतिभासित अर्थ को देखकर

आप सोचते होंगे यह वर्णन तो कुछ-कुछ मुसलमानों की बहिश्त जैसा है। मैं कहता हूं आपका विचार बिलकुल ठीक है। यहां केवल आपको हूरों की कसर दिखलाई दी होगी, सो इसी सूक्त के दूसरे मन्त्र में वह पूरी कर दी गई है। वह मन्त्र इस प्रकार है :—

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम्।
नैषां शिश्नं प्रदहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहुस्त्रैणमेषाम्॥

इस मन्त्र के अन्तिम भाग "स्वर्गे लोके बहुस्त्रैणमेषाम्" पर एक दृष्टि डालिए कि इस स्वर्ग में रहने वालों को बहुत-सी स्त्रियां प्राप्त होती हैं। यहीं तक नहीं, कुरान में "बहिश्त" शब्द भी वेद के इसी सूक्त से गया है। इसी सूक्त के पांचवें मन्त्र के प्रारम्भिक निम्न भाग को देखिए—"एष यज्ञानां विततो बहिष्ठः"। यहां थोड़ा "बहिष्ठ" शब्द पर ध्यान दीजिए और फिर देखिए कि वेद के "बहिष्ठ" और कुरान के बहिश्त में कुछ समता है या नहीं? बिलकुल वही शब्द है केवल इतना-सा विकार आया है कि मूर्धन्य ष का तालव्य श् बन गया और उसी हिसाब से ठ को त हो गया है।

अब यह सब कुछ पढ़कर आप बहुत उलझन में होंगे कि वेद में भी अगर वही बहिश्त है तो फिर मुसलमानों पर आक्षेप क्यों किये जाते हैं? सत्यार्थ-प्रकाश के चौदहवें समुल्लास में ऋषि दयानन्द जी महाराज़ ने ही अनेक स्थानों पर बहिश्त की आलोचना की है। यह तो "शीशे के मकान में बैठ कर दूसरों पर पत्थर फेंकने वाली" कहावत ही चरितार्थ होती है।

किन्तु बात ऐसी नहीं है। यह तो ठीक है कि कुरान की बहिश्त वेद की नकल है। पर यह नकल पूरी हो नहीं पाई है। ढांचा बेशक देवों का है किन्तु मनोवृत्ति नितान्त असुरों की है। केवल दो बातें विशेष रूप से उन्होंने अपनी मनोवृत्ति के अनुसार बिगाड़ ली हैं। जिनकी यहां गन्ध भी नहीं है। वह यह कि एक तो "सुरोदकाः" से शराब की और दूसरे 'बहुस्त्रैणमेषाम्' से एक व्यक्ति के भोग के लिए बहुत सी स्त्रियों की कल्पना। आप कहेंगे शब्दों का अर्थ तो वह भी स्पष्ट रूप से हो सकता है जो कुरान में लिया गया है, फिर वह ठीक क्यों नहीं है? इसका समाधान यह है कि दूसरे मन्त्र के पहले भाग में वह बात कह दी गई है जिससे कुरान वाली सारी कल्पना ही

निर्मूल हो गई है। बात को समझने के लिये मन्त्र के शब्दों पर दृष्टि डालिये। यहां सब प्रकार से स्वर्ग में प्रवेश का किसको अधिकार है? वह योग्यताएं गिनाई गई हैं। प्रवेशार्थी की पहली योग्यता है (अनस्थाः) इतने स्वस्थ और बलिष्ठ हो कि शरीर की हड्डियाँ न दिखलाई देती हों। निर्बल और निकम्मों को इस स्वर्ग (गृहस्थ) में प्रवेश का अधिकार नहीं है। हीनबल व्यक्ति एक तो गृहस्थ के पूरे बोझ को न सम्भाल पायेगा और दूसरे राष्ट्र को सन्तान के रूप में योग्य प्रतिनिधि न दे सकेगा। (२) दूसरी योग्यता कही "पूताः" पवित्र विचारों और उद्देश्यों को लेकर गृहस्थ में प्रवेश करे। विषय-लिप्सा के मलिन विचारों को लाकर इस स्वर्ग के वायुमण्डल को गन्दा न करें। (३) तीसरी योग्यता बताई (पवनेन शुद्धाः) हृदय प्राणायाम के द्वारा शुद्ध हों और आवास स्थान वायु के आने जाने की व्यवस्था के कारण शुद्ध हो (४) चौथी योग्यता (शुचयः)सर्वथा पवित्र विचार और पवित्रता के वायुमण्डल में रहने वाले हों। (५) पांचवीं योग्यता (शुचिं लोकमपि यन्ति)समाज में सम्बन्ध भी पवित्र विचारधारा वालों के साथ हों। मनुष्य की वास्तविक परख तो इसकी सोसायटी से होती है। अभद्र जनों से भद्र व्यवहार और भद्र वचनों की कभी आशा नहीं की जा सकती। (६) छठी योग्यता (एषां शिश्नं जातवेदा न प्रदहति) जिनकी जननेन्द्रिय को कभी काम की आग, भोग की इच्छा नहीं जलाती अर्थात् जो उच्च कोटि के जितेन्द्रिय और संयमी हैं।

अब संगति लगाकर देख लीजिये बात स्पष्ट है। एक ओर एक व्यक्ति शराब की बोतल पर बोतल चढ़ावे और दूसरी ओर उसे जितेन्द्रियता की पदवी दी जावे, यह कैसे सम्भव होगा? शराब को तो कहा ही शरारत का पानी जाता है। शराबी और जितेन्द्रिय यह असम्भव है! अगली बात कही कि काम की आग कभी जिनकी जननेन्द्रिय को नहीं जलाती और ऐसों के लिये ही स्त्रियों का रेवड़ नियत किया जा रहा है। "संयमी" की इससे अधिक हास्यास्पद

संगति तो क्या दुर्गति कहनी चाहिये—क्या हो सकेगी ? अतः वेद में विषय-भोग की हरी घास चरने वाले पशुओं के लिये कोई स्थान नहीं है।

आप कहेंगे यह बात तो ठीक हो गई, पर गप मारने में कसर तो वेद ने भी नहीं छोड़ी। भला घी के तालाब हो सकते हैं ? शहद की नहरें बह सकती हैं ? पानी की तरह दही को उलीचा जा सकता है ? निःसन्देह जिस युग में हम जी रहे हैं उसमें यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। आज के इस समय को यदि "डालडा युग" कह दिया जावे तो कोई अनुचित नहीं है। आज के बड़े-बड़े नगरों में डालडा खाने वाले भी बड़ी शान से कहते हैं कि हम ऐसा-वैसा घी नहीं खाते खालिस डालडा खाते हैं किन्तु वेद मानव संख्या की वृद्धि के साथ दुधारु पशुओं की वृद्धि पर भी बहुत बल देता है।

त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन ।
अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम् ।।

अथर्व० ५।२८।३

तीन गुण (सत्व रजस् तमस्) वाले जगत् में तीन पुष्टियां सदा बनी रहें। पहली अन्न की, दूसरी प्रजा की और तीसरी उपयोगी पशुओं की। **"संसिञ्चामि गवां क्षीरम्"** (अथर्व०) मन्त्र में कहा गया है कि अपने शरीर को दूध से ऐसे सींचो जैसे किसान फसल को सींचता है। वेद ने प्रत्येक गृहस्थ के लिये गौ रखने की प्रेरणा बड़े काव्य-मय ढंग से की है :—

स्व आवमे सुदुघा यस्य धेनुः स्वधां पीपाय सुभ्वन्नमत्ति ।

ऋ० २।३५।७।।

जिसके अपने घर अच्छी दुधारू गौ है वही अपने बल को बढ़ा सकता है और वही उत्तम भोजन खा सकता है। यही बात क्या हम और आप अपनी बातचीत में नहीं कहते कि घी और दूध तो वास्तव में वे ही खा सकते हैं जिनके घर दूध देने वाले पशु हैं। इसी रहस्य को समझ कर विवाह में कन्यादान से पहले गोदान का विधान है। कभी इस देश

में कितना गोधन था—आज के व्यक्ति के लिए तो यह कल्पना भी कठिन है।

गर्ग संहिता में नन्द उपनन्दादि के लक्षण इस प्रकार किये हैं। श्री ब्रह्मोवाच—

कस्य वै नन्दपदवी कस्य वै वृषभानुता।
वद देवपते साक्षादुपनन्दस्य लक्षणम् ॥

हे देवपते ! नन्द, उपनन्द और वृषभानु के क्या लक्षण हैं ? यह कृपा कर बताइये। श्री भगवानुवाच :—

गाः पालयन्ति घोषेषु सदा गोवृत्तयोऽनिशम्।
ते गोपाला मया प्रोक्तास्तेषां त्वं लक्षणं शृणु ॥

रात दिन जो गोपालन का काम करते हैं वे गोपाल कहलाते हैं। और उनके लक्षण निम्न हैं :—

नन्दः प्रोक्तः सगोपालैर्नव लक्ष गवां पतिः।
उपनन्दश्च कथितः पंचलक्ष गवां पतिः ॥

नौ लाख गौओं के अधिपति को नन्द कहा जाता है और पांच लाख गौओं के स्वामी को उपनन्द कहते हैं।

वृषभानुः स उक्तो यो दशलक्ष गवां पतिः।
गवां कोटिर्गृहे यस्य नन्दराजः स एव हि ॥
कोट्यर्धं च गवां यस्य वृषभानुवरस्तु सः ॥

जो दस लाख गौओं का अधिपति हो वह वृषभानु और जो एक करोड़ गौएं अपने घर रखे वह नन्दराज कहलाता है। इसी प्रकार जिसके यहाँ पचास लाख गौएं रहें वह वृषभानुवर कहलाता है। अब आप विचार कीजिये जिसके यहां हजारों और लाखों गौएं दूध देती हों, क्या वहाँ घी के तालाब न होते होंगे ? क्या वहां दूध की नदियां न बहती होंगी ? कल परसों अकबर के समय तक जब कि पहले की अपेक्षा गोधन बहुत कम हो गया था, इस देश की जनसंख्या

२० करोड़ थी और गौओं की संख्या २८ करोड़ थी। अकबर के समय में १) का १५ सेर घी आता था। देखो (देश की बात नामक पुस्तक) चाणक्य के समय में जब कि यहां की जनसंख्या १९ करोड़ थी गौओं की संख्या ३६ करोड़ थी।। चाणक्य के समय में घी ११) मन था। (देखिये माडर्न रिव्यू मास अक्टूबर १९४३ में श्री देव ज्योति बर्मन का लेख)

अतः वेद के इस वर्णन में कुछ भी अत्युक्ति नहीं। तो वेद ने हमारे गृहस्थाश्रम को स्वर्ग बताया। इसी प्रकार मानव धर्मशास्त्र में भी गृहस्थ को स्वर्ग कहा है और गृहस्थाश्रम को सबसे श्रेष्ठ आश्रम माना है:—

स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखञ्चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥

नित्य सुख और अक्षय स्वर्ग चाहने वालों को गृहस्थाश्रम भले प्रकार धारण करना चाहिये। किन्तु निर्बल मनुष्य उस स्वर्ग का आनन्द कभी नहीं ले सकते।

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि॥

मनु० ३।७९

वेद और स्मृति के विधानानुसार गृहस्थाश्रम सबसे श्रेष्ठ है। क्योंकि वह इन तीनों का पालन करता है।

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥३।७८

क्योंकि गृहस्थ तीनों आश्रम वालों को दान और अन्न से धारण करता है। इसलिये सबसे महान् है। इससे अगले पद्य में तो प्रशंसा की पराकाष्ठा करदी है।

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥

जैसे संसार के समस्त प्राणी वायु के सहारे पर जीते हैं इसी प्रकार सब आश्रमों के लिये गृहस्थाश्रम भी प्राणों के समान जीवनाधार है। इसी प्रकार रामायण में भी गृहस्थाश्रम की प्रशंसा करते हुए श्री रामचन्द्र जी से भरत जी कहते हैं—

चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम् ।
प्राहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तत् कथं त्यक्तुमिच्छसि ॥

हे धर्मज्ञ ! धर्म के तत्व को जानने वाले लोग चारों आश्रमों में गृहस्थ आश्रम को सबसे श्रेष्ठ बताते हैं। इसलिये आप को उसे त्यागना ठीक नहीं।

संस्कारों की हीनता के कारण गृहस्थ स्वयं को तुच्छ और निकृष्ट समझने लग गये हैं। अन्यथा वैदिक परम्परा में वशिष्ठ, कण्व और पराशर आदि ऋषि, मुनि और महर्षि सब गृहस्थ ही थे।

गृहस्थ को हीन भावना से देखना बौद्धों से प्रारम्भ हुआ। उस युग में श्रमण और भिक्षुओं को बहुत उच्च समझा जाने लगा। किन्तु वैदिक भावना यह नहीं है। वेद में तो गृहस्थ को सर्वमहान् बताया गया है।

ऊपर की पंक्तियों में यह थोड़ा-सा आभास दिया गया है कि वेद और शास्त्रों में गृहस्थ को स्वर्ग, तथा सब आश्रमों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ बताया गया है।

॥ इति प्रथमः परिच्छेदः ॥

: २ :

श्रेष्ठ संतान

आज के गृहस्थ से पूछ कर देखें कि क्या आप स्वर्ग में निवास कर रहे हैं ? तो १०० में से ९५ बहुत ही दुःखी होकर भरे हुए हृदय से उत्तर देंगे कि हम तो साक्षात् नरक में निवास कर रहे हैं। आज के हमारे घरों में स्वर्ग कैसा ?

जब से हुए मुहज्जब कभी घर का मुंह न देखा।
कटी उम्र होटलों में मरे हस्पताल जाकर ॥

पति और पत्नी के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। पति उत्तरीय ध्रुव की बात करता है तो पत्नी दक्षिण ध्रुव की। पिता और पुत्र में अनबन है। सास और बहू में देवासुर-संग्राम छिड़ा रहता है। भाई-भाई का शत्रु है। जेठानी और देवरानी एक दूसरी को देखकर भी प्रसन्न नहीं है। अब आप स्वयं विचार लीजिये कि यह दृश्य स्वर्ग का है अथवा नरक का ? कहां तो विवाह संस्कार में पाणिग्रहण के मन्त्रों में पत्नी का हाथ पकड़ता हुआ पति बड़े भावावेश में कहता है "गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्" मैं अपने सौभाग्य की वृद्धि के लिये तेरे हाथ को ग्रहण करता हूं। किन्तु चार दिन की चांदनी के बाद ही घर में जब अंधेरी रात आती है, दोनों की विरुद्ध मनोवृत्तियां आपस में टकराती हैं तो मन ही मन कहता है "गृहीतं ते दौर्भगत्वाय हस्तम्" मेरा यह दुर्भाग्य था जो साथी बनने के लिये मैंने तेरा हाथ पकड़ा। उस समय के वैवाहिक दृश्य पर सन्त तुलसीदास की यह पंक्ति सोलह आने घटती है—"तुलसी गाय बजाय के देत काठ में पांव" तुलसीदास जी कहते हैं कि जेलखाने में पैर फंसाने के लिये कोई गाजे बाजे के साथ धूमधाम से नहीं जाता और न उसके सम्बन्धी ही हर्षोन्मत्त होकर नाचते-कूदते हैं, अपितु जेल जाते समय सबको उदासी होती है। किन्तु इस वर रूपी बन्दी को देखिये यह किस उमंग में और

राग-रंग में झूमता हुआ अपना पैर काठ (जेल) में फंसाने के लियै जा रहा है।

वस्तुत: यही दयनीय स्थिति है। प्रश्न होता है यह गृहस्थ स्वर्ग से नरक कैसे बन गया ? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिये गीता के आरम्भ में अर्जुन के शब्दों पर दृष्टि डालिये। अर्जुन के सामने युद्ध के बाद का भयंकर दृश्य साकार हो उठा और वह घबराकर श्रीकृष्णजी से बोला---कृष्ण ! यदि इतने अनर्थ करके और भाइयों के रक्त से हाथ रंगकर राज्य प्राप्त करना है तो इसकी अपेक्षा तो भीख मांग कर खा लेना अच्छा है। यदि यह युद्ध हुआ तो इसमें बड़ा नरसंहार होगा। पुरुषों के युद्ध में खप जाने से स्त्रियों की संख्या अधिक हो जायेगी। फिर उनमें मर्यादाभंग-दोष उत्पन्न हो जायेगा और इसका अति भयंकर परिणाम यह होगा कि वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होगी और जहाँ वर्णसंकर सन्तान हो "संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च" वहां नरक हो जाता है।

आप कहेंगे बात समझ में नहीं आई। वर्णसंकर सन्तान तो वह कहलाती है कि ब्राह्मण का सम्बन्ध ब्राह्मण से न होकर किसी अन्य वर्ण की स्त्री से हो और उस से जो सन्तान उत्पन्न हो वह वर्णसंकर होगी। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य को भी अपने से भिन्न वर्ण की स्त्री प्राप्त हो और उससे जो सन्तान हो वह वर्णसंकर होगी। किन्तु आज यह बात कैसे लागू होगी। आजकल तो ब्राह्मण का ब्राह्मणी के साथ, क्षत्रिय का क्षत्रिया के साथ और वैश्य का वैश्य स्त्री के साथ सम्बन्ध होता है। फिर वर्णसंकर सन्तान कैसी ? इसका सीधा-सादा उत्तर यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य उन रुचियों और मनोवृत्तियों का नाम है जिनके आधार पर मनुष्य संसार में अपने कार्यक्षेत्र का चुनाव करता है। एक मनुष्य वेद-वेदांग का अध्ययन करने के पश्चात् अपने जीवन का लक्ष्य अविद्या और अज्ञान का विनाश बनाता है - चाहे वह किसी कुल में पैदा हुआ है—ब्राह्मण है। इसी प्रकार क्षत्रिय वह है जो वेद-वेदांगों का अध्ययन करने के

पश्चात् संसार से अन्याय को मिटाने का व्रत लेता है। इन दोनों के समान ही सांगोपांग वेद पढ़कर जो कार्यक्षेत्र के लिये संसार से अभाव को मिटाने का व्रत लेता है वह वैश्य है। पर आजकल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य नाम के लेबल बोतलों के ऊपर चिपके हुए हैं। इनमें अन्दर क्या है? यह कोई नहीं देखता। चाहिये यह कि जिस गुण, कर्म, स्वभाव का पुरुष हो उसकी सहधर्मिणी भी उसी गुण, कर्म, स्वभाव की हो। इसी प्रकार के जोड़े से जो सन्तान जन्म लेगी उस पर माता-पिता के गहरे संस्कार होंगे और वही सन्तान वर्ण के अनुकूल होगी। इसके विपरीत ब्राह्मण को यदि वैश्य पत्नी मिल जाये तो उसके मार्ग में वह पत्नी सहधर्मिणी तो क्या, मार्ग का रोड़ा बनकर अटक जायेगी। पति चाहता है कि जो ज्ञान मेरे पास है उसे मैं आस-पास बांट दूं। उस ज्ञान की विद्यमानता में कोई पथिक भटक कर उल्टे मार्ग पर न जावे। इसी धुन में उसे न खाने का ध्यान, न उत्तम वस्त्र पहनने का और न शानदार बंगलों में आनन्द से जीवन बिताने का। किन्तु देवी जी वैश्य स्वभाव की हैं। वह स्वप्न लेती रहती हैं कि हमारे पतिदेव भी पैसा कमाकर कोठी बनवायेंगे। हमारे दरवाजे पर कार होनी चाहिये, जिसमें हम और हमारे बच्चे सैर किया करें। इसमें सन्देह नहीं कि पण्डितजी भी चाहें तो अपनी योग्यता से पैसा कमाकर वह सब कुछ कर सकते हैं जो उनकी पत्नी चाहती हैं पर करें कैसे? वहां वह मनोवृत्ति ही नहीं है? और इन संस्कारों की तह इतनी दृढ़ होती है कि वह उसी के आधार पर गति करेगा; उस से इधर-उधर जा ही नहीं सकता है। ब्राह्मण मनोवृत्ति का मनुष्य चाहे पेट के लिये मजदूरी करता हो पर जब भी चार पैसे बचेंगे कोई पुस्तक ही मोल लायेगा। इसी प्रकार क्षत्रिय मनोवृत्ति का मनुष्य अन्याय और अत्याचार को देखकर तड़फ उठेगा चाहे उसका परि-णाम कुछ भी क्यों न हो? ठीक इसी प्रकार एक सद् वैश्य भी अच्छे वाणिज्य और व्यापार द्वारा दूसरों की निर्धनता को दूर भगाने का यत्न करेगा। तो होना यह चाहिये कि गृहस्थ में जाते समय समान गुण कर्म स्वभाव वाले पुरुष और स्त्री विवाह-सम्बन्ध स्थापित करें

और, एक और एक ११ (ग्यारह) के समान उत्साहपूर्वक अपने साध्य में जुट जावें। इसके विपरीत चलकर आप गृहस्थ को सुखी देखना चाहें तो नितान्त असम्भव है।

किन्तु आज देख लीजिये क्या हो रहा है! कोई नहीं देखता कि मेरा पुत्र अथवा पुत्री इस मनोवृत्ति का है, अतः इसे साथी भी इसी स्वभाव का चाहिये। इस समय तो विवाह, कोठी-बंगले, कार, जायदादों के होते हैं। लड़की और लड़के का सम्बन्ध तो गौण है। वह मिल जाये तो अच्छा है और न मिले तो कोई चिन्ता नहीं। पुराने समय में एक संस्कृत के कवि ने जो लिखा था, वह अक्षरशः घट अब रहा है—

कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्।
बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः॥

वर और वधू एक सुन्दर साथी चाहते हैं। बाह्य सुन्दरता के अतिरिक्त और चीजें इनकी दृष्टि में भी विशेष महत्त्व नहीं रखतीं। केवल चमड़ी की सुन्दरता को परखने वालों को समझ लेना चाहिये कि यदि तुम्हारे लिए यही आकर्षण की वस्तु है तो इस सम्बन्ध में तो बहुत शीघ्र शिथिलता आ जावेगी। बाह्य सौन्दर्य तो बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है। यहां तक कि चेहरे की लाली गुलाली तो एक दिन के जुलाब में ही झड़ जाती है और फिर स्त्रियों का सौन्दर्य तो पहली सन्तान के पश्चात् ही क्षीण हो जाता है। तो क्या इसी प्रकार आपका प्रेम भी शिथिल होता चला जाना चाहिये। किसी इसी प्रकार के चर्मोपासक ने कभी किसी क्षीणसौन्दर्य सुन्दरी से पूछा—क्या हो गया आपको? वह लाली पीलेपन में कैसे परिवर्तित हो गई? इस प्रश्न को सुनकर देवी ने जो उत्तर दिया, वह युवकों और युवतियों को सदा स्मरण रखना चाहिये—

मत मेरे रंगे जर्द का चर्चा करो कि यां।
रंग एकसा किसी का हमेशा नहीं रहा॥

अत: बाह्य सौन्दर्य के साथ-साथ गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है—वलिक यह कहना चाहिए कि बाहरी सौन्दर्य एक बार चाहे न भी हो किन्तु गृह-लक्ष्मियों में जो गुणगरिमा होती है—वह अवश्य होनी चाहिए। प्रेम की स्थिरता इसके विना नहीं। किन्तु वर्तमान में, अपवाद को छोड़कर सच्चाई यही है कि दृष्टि चमड़े तक ही है। दोनों ओर की माताओं की दृष्टि - चाहे वर की माता हो, चाहे वधू की—उनकी दृष्टि धन पर है, पिताओं का ध्यान पढ़ने-लिखने पर रहता है और भाई-बन्धुओं का ध्यान अच्छे कुल की ओर होता है, किन्तु इन सब में बरातियों के लिए कोई भी आकर्षण की वस्तु नहीं। वे तो—"मिष्टान्नमितरे जना:"। उनकी दृष्टि तो मिठाई की तश्तरियों पर है। यदि दावत बढ़िया हुई तो चाहे ऊंट के गले में बकरी बांध दी हो तब भी प्रशंसा करते-करते नहीं थकेंगे और जहां वर और वधू का जोड़ा तो ठीक मिल जावे, किन्तु दावत कुछ ढीली रह गई हो ऐसी बरात से लौटे बराती से पूछकर देखिए विवाह कैसा हो गया ? अब उनके लिये तो विवाह थी ही दावत। इसलिए ढीला-सा मुंह बनाकर जवाब देते हैं—विवाह तो ठीक हो गया पर कुछ रौनक सी नहीं आई—बस कमी वहीं रह गई जिसके लिये वे गये थे। बरात का लक्ष्य तो यह था कि ये लोग वर और वधू की प्रतिज्ञाओं के साक्षी बनें और आगे के जीवन में प्रतिज्ञा-पालन के लिए दोनों को सावधान करते रहें। वहां रूप इतना विकृत हो गया है कि प्राय: सभी ने भोजन किया और सो गए। विवाह-मण्डप में कौन गए ? पुरोहित जी, वर महोदय और वर के दो चार अन्तरंग मित्र, जिनकी दृष्टियां चारों ओर कुछ और ही खोजती रहती हैं। वर के पिता जी और दो एक लालबुझक्कड़ तब आते हैं अथवा बुला भेजते हैं जब कि आशीर्वाद का समय होता है। कितने महत्त्वपूर्ण संस्कार का स्वरूप क्या से क्या बनाकर रख दिया है ?

विपरीत गुण कर्म स्वभाव के माता-पिता के मेल से जो सन्तान हुई उसमें किसी भी वर्ण के संस्कार पुष्ट नहीं होंगे। अत: ऐसी

सन्तान के होने से कुल धर्म नष्ट हो जाते हैं। सन्तान का होना वास्तव में यही है कि कुल मर्यादओं का सन्तान=सम्—भले प्रकार तान—विस्तार होता चला जावे। प्राचीन समय में तो माता-पिता की सम्पत्ति का अधिकार ही उसको मिलता था जो पिता के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र के दायित्व को भी सम्भालता था। बृहदारण्यकोपनिषद् में प्राचीन समय की एक वसीयत इस प्रकार है—

अथातः सम्प्रपत्तिः। यदा प्रैष्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्मत्वंयज्ञस्त्वं लोक इति। स पुत्रः प्रत्याह अहं ब्रह्म अहं यज्ञोऽहं लोक इति। यद्वै किञ्चानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता ये वै के च यज्ञास्तेषां सर्वेषां यज्ञ इत्येकता ये वै के च लोकास्तेषां लोक इत्येकता एतद्वा इदं सर्व एतन्मा सर्वं सन् अयमितोऽनुभजदिति तस्मात् पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशासति ॥

अतः वसीयत का वर्णन करते हैं। जब एक पिता अपने जीवन का अन्तिम समय अनुभव करता है तो पुत्र को बुलाकर कहता है मेरे आध्यात्मिक, परोपकार सम्बन्धी और सामाजिक क्षेत्रों में जितने भी काम हैं, तू उनका उत्तराधिकारी है। पुत्र कहता है मैं आपके प्रत्येक क्षेत्र के स्थान को रिक्त नहीं होने दूंगा। जो पुत्र पिता के इन उत्तरदायित्वों को सम्भालता था वही पिता की सम्पत्ति का अधिकारी होता था। आज इस मर्यादा का व्यतिक्रम होने से पुत्र सम्पत्ति को सम्भाल लेता है, किन्तु अन्य क्षेत्रों में भी उसका कुछ कर्तव्य है, वह यह नहीं सोचता। अतः वर्णसंकर सन्तान ने हमारे घरों को नरक बना दिया है। वर्णसंकर सन्तान का टकसाली अर्थ होगा खच्चर; और आप सब जानते हैं कि खच्चरों पर बोझ तो ढोया जा सकता है, किन्तु खच्चरों से वंश नहीं चलाया जा सकता।

आज का मनुष्य स्वर्ग का नाम सुनते ही भौंचक्का होकर आंखें फाड़कर देखता है कि स्वर्ग कहां है? और जब उसे यह कहा जाता है कि गृहस्थ ही स्वर्ग है तो उसे बिल्कुल विश्वास नहीं होता।

॥इति द्वितीयः परिच्छेदः॥

: ३ :

दहेज का अभिशाप

अब प्रश्न उठता है कि क्या आज का गृहस्थ भी कभी स्वर्ग बन सकता है ? तो इसका उत्तर हां में है। वे बुराइयां और कुरीतियां जिनके कारण हमने उसको नरक बना लिया है, उन बुराइयों को छोड़कर सद्‌गुणों को ग्रहण करने की ओर हमारी प्रवृत्ति जग जावे तो फिर इसके स्वर्ग बनने में क्या सन्देह है, अतः हम यहाँ कतिपय मुख्य बुराइयों को छोड़ने का और अच्छाइयों को ग्रहण करने का अनुरोध करेंगे। सबसे पूर्व हम सब गृहस्थियों का ध्यान मनु जी की उस चेतावनी की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं जो इस स्वर्ग की आधारशिला है और मनु ने उसे बड़े सबल शब्दों में प्रस्तुत किया है। वह चेतावनी इस प्रकार है—

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तु मत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥

माता-पिता के घर लड़की जवान होकर चाहे मृत्युपर्यन्त कुमारी रही आवे यह सहन किया जा सकता है किन्तु जिसके साथ लड़की का गुण कर्म स्वभाव न मिले ऐसे पुरुष के साथ उसका सम्बन्ध कदापि नहीं करना चाहिये।

विवाह करते समय कुल की मर्यादाएं, दोनों के गुण कर्म स्वभाव के मेल को देखकर ही सम्बन्ध करने चाहियें। हमारे इतिहास में इस प्रकार के उदाहरण विद्यमान हैं कि अनुकूल वर न मिलने पर लड़कियां सारी आयु भर कुमारी रहीं किन्तु उन्होंने अयोग्य पति को वरना उचित न समझा। उदाहरण के लिये महाभारत से सुलभा नाम की क्षत्रिया को उपस्थित किया जा सकता है।

१७-१८ वर्ष की भगवे वस्त्र पहने हुए एक लड़की महाराज जनक के दरबार में ब्रह्म-विद्या के विषय में कुछ विचार-विनिमय करने गयी। महाराज ने इस अल्पवय में संन्यास का कारण पूछते हुए उसका परिचय चाहा। लड़की ने अपना परिचय निम्न शब्दों में दिया—

साहं तस्मिन् कुले जाता भर्तर्यसति मद्विधे।
विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम् ॥

मैं उसी कुल में उत्पन्न हुई हूं जिसमें कि आप। अर्थात् मैं क्षत्रिया हूं और जब मुझे गृहस्थ के लिये अनुरूप पति न मिला तो गृहस्थ में जाने का विचार छोड़कर मोक्ष धर्म की सिद्धि के लिये मैंने संन्यास ग्रहण कर लिया है। अतः वैवाहिक सम्बन्ध के लिये सबसे पूर्व और मुख्यरूप से गुण कर्म स्वभाव की समानता देखिये। यह बात केवल लड़की वालों के लिये ही लाभ की नहीं, अपितु लड़के वालों के लिये भी उतने ही महत्त्व की है। जो लड़के वाले पैसे और दहेज पर गिद्ध की-सी दृष्टि रखे रहते हैं, यह सबसे बड़ी बुराई है। इस बुराई ने सारे भारतवर्ष के गृहस्थियों का नाक में दम कर रखा है। विशेष कर जो लड़की वाले हैं। वैसे कुछ एक को छोड़कर सभी लड़की वाले हैं। ऐसे लोग तो बहुत ही कम होते हैं जिनके लड़के ही लड़के हों। नहीं तो लड़की और लड़के ही सब गृहस्थियों के होते हैं। पर आश्चर्य की बात है कि वही गृहस्थी जब अपनी कन्या के लिये वर खोजने को चला तो अनेक कठिनाइयों को अनुभव किया। किन्तु जब उसके पुत्र के विवाह का नम्बर आया और दूसरा गृहस्थी अपनी पुत्री के विवाह के लिये उसके द्वार पर आया, उस समय वह अपनी स्थिति को सर्वथा भूल गया और अपनी ओर से सौदा करने में कोई कमी नहीं छोड़ता। आज घर में लड़की का उत्पन्न होना एक आपत्ति के समान है। किसी गृहस्थी को जब यह सूचना दी गई कि तुम्हारे यहां कन्या ने जन्म लिया है तो बेचारा माथे पर हाथ रखकर बोला—

पुत्रीति जाता महती हि चिन्ता कस्मै प्रदेयेति महान् वितर्कः।
गत्वा सुखं प्राप्स्यति वा न वेति कन्या-पितृत्वं खलु नाम कष्टम् ॥

घर में लड़की उत्पन्न हो गई, यह बहुत बड़ी चिन्ता की बात है। कहां विवाह होगा कहां नहीं, यह उधेड़बुन अभी से सर पर सवार है। विवाह होने के बाद भी जाने बसेगी कि नहीं, सुखी रहेगी या नहीं। यह चिन्ता की चिनगारी मन में सुलग रही है। अहो, लड़की का पिता बनना बड़े कष्ट की बात है। आज यह श्लोक लड़की वालों पर अक्षरश: घटता है। ऐसे अनेक दृश्य मेरी आंखों के सामने हैं जहां पैसा न होने के कारण लड़कियों की विवाह की आयु निकल गई और बाद में उन्हें विवाह का विचार ही छोड़ना पड़ा। पच्चीस-पच्चीस, तीस-तीस वर्ष की कुमारी कन्याएं तो प्राय: घरों में बैठी हैं। क्या यह कम कष्ट है? क्या इन गौओं (कन्याओं) की आहें हिन्दू समाज को कभी सुखी बनने देंगी? आज कितनी स्नेहलताएं प्रतिदिन आत्म-हत्याएं करती हैं पर किसी को इस कलंक को मिटाने का ध्यान तक नहीं आता। यहां प्रसिद्ध होने के कारण हम स्नेहलता की घटना का उल्लेख करते हैं। यद्यपि घटना पुरानी है किन्तु परिस्थिति में अन्तर न आने से वह नयी-सी ही है। घटना इस प्रकार घटी—

बाबू हरेन्द्र कुमार मुकर्जी कलकत्ते के एक सामान्य सज्जन थे। वे दलाली का काम करते थे। मुकर्जी की पुत्री स्नेहलता प्रेम की मूर्ति और साक्षात् देवी थी। सुशिक्षा के कारण उसके हृदय में बड़ी पवित्र विचारधारा बहती थी। लता की आयु १५ वर्ष की हो गई थी। बाबू हरेन्द्र कुमार उसके विवाह की चिन्ता में रात-दिन घुलते रहते थे। दहेज के लिये उनसे कम से कम २०००) मांगा जाता था। इतना धन देने की उनकी शक्ति नहीं थी। पर साथ ही किसी अयोग्य वर को वे अपनी प्यारी पुत्री को देना भी नहीं चाहते थे। अत: उन्होंने अपना एक मात्र पैत्रिक धन मकान बेचकर कन्या का विवाह करने का निश्चय किया।

स्नेहलता बुद्धिमती लड़की थी। उसमें बड़े उच्च और गम्भीर विचार जागृत हो गये थे। स्वभावत: अपने सुख के लिये पिता तथा

अन्य कुटुम्बियों को दुःख में डालना उसे रुचिकर न हुआ। उसने अपने आत्मयज्ञ से भारत के इस कलंक को भस्म करना ठान लिया। वह घर के काम-काज से छुट्टी पाकर दोपहर को अच्छे कपड़े पहन कर कोठे पर चढ़ गई और उसने धोती को तेल से तर करके उसमें आग लगा दी। सामने एक मन्दिर था। वहां के पुजारी ने प्रसन्नचित्त एक बालिका को जलते देखकर शोर मचाया। लोगों ने दौड़कर आग बुझाई और वे उसे अस्पताल ले गये। पर उस दिन सूर्य के अस्त होते-होते उसकी पवित्र आत्मा भी अस्त हो गई। मृत्यु के पहले वह अपने पिता के नाम एक पत्र लिख चुकी थी। उसमें उसके स्नेह-मय विचार प्रकाशमान हैं। यह पत्र भारत के १८-१९ फरवरी सन् १९१४ के कुछ समाचार पत्रों में छपा था। वह पत्र यह था—

पूज्य पिता जी,

मेरे विवाह के लिये आप अपने पूर्व पुरुषों की कमाई का मकान न बेच दीजिये। इस घर में बाहर के लोग आकर रहें यह मैं न देख सकूंगी। अब आपको घर रेहन रखने की आवश्यकता न पड़ेगी। कल पौ फटने से पहले ही आपकी अभागी लड़की परलोक चली जावेगी।

आपने और मां ने प्रेमपूर्ण जीवन से इस स्नेहलता को बढ़ाया, अपने हृदय में फैलने का स्थान दिया। राजभवन में रहने वाली राजकुमारियों से भी बढ़कर मैं सुखी थी। क्या मैं इस प्रेम का बदला इसी प्रकार देती कि आप और मेरे भाई-बहन घर से निकाल दिये जावें। आप दरिद्रता और दीनता का जीवन व्यतीत करें।

पिता जी, प्रातः शहर भर घूमकर जब आप दोपहर को घर आए और निराश होकर बोले कि "काम बिगड़ गया"; आपका उस समय का चेहरा अब भी मेरी आँखों के सामने है। आपके ये शब्द अब भी मेरे कानों में गूंज रहे हैं। मेरा विवाह कैसे हो? इस चिन्ता से आपकी छाती जल रही है। १५ वें वर्ष तक मेरा विवाह नहीं हुआ। लोग आपकी निन्दा करते हैं। इस विषय में अपना सिर ऊंचा करने का आपने बहुत यत्न किया है।

सचमुच मुझे विवाह के लिये कैसे उत्साह हो सकता है ? आपकी चिन्ता दूर हो इसलिए मैं विवाह करना चाहती थी। परन्तु नहीं, मेरा विवाह होना असम्भव है।

उस दिन बर्दवान की बाढ़ में बहुत से उदार और पढ़े-लिखे लोगों ने अनाथों की सहायता की। कई लोगों ने विदेशी वस्तुओं का त्याग किया। कितने ही युवकों ने दक्षिण अफ्रीकावासियों के लिये दर-दर भीख मांग कर रुपया एकत्र किया। ईश्वर इन दयालु और उदार पुरुषों की सदा रक्षा करें, परन्तु इन युवकों का ध्यान अपने देश की दुर्दशा पर क्यों नहीं जाता ?

रात को जगन्माता ने मुझे दर्शन देकर बुलाया है। आप लोगों को मेरे विवाह के कारण दुःख न भोगना पड़े, इसलिए मैंने मां भवानी के पास जाने का निश्चय किया है।

संसार-यात्रा समाप्त करने के लिए अग्नि, जल अथवा विष इनमें से किस वस्तु की शरण लेनी चाहिये, इस पर मैंने कुछ देर तक विचार किया। अन्त में अग्नि की शरण लेने का निश्चय किया। अब मैं अपने शरीर में आग लगा दूंगी, जिससे देश के सब लोगों के अन्तःकरण पिघल जावें और उनसे दया का स्रोत बह निकले। यही ईश्वर से मेरी प्रार्थना है।

मेरे मरने पर आप लोग आंसू बहायेंगे। परन्तु घर न बिकेगा। उसमें आप और मेरे भाई आदि रह सकेंगे। पिता जी, अब अधिक लिख नहीं सकती। आत्म-यज्ञ का समय निकट आ रहा है। अब मैं उस महान् निद्रा में निमग्न हो जाऊंगी जिससे फिर जगना न होगा। मां दुर्गा के पास अब मैं आपकी और मां की बाट जोहती हुई जा बैठती हूं।

आपकी अभागिनी कन्या
स्नेहलता

आज पंजाब में कितनी ही परित्यक्ता (छोड़ी हुई) लड़कियां माता-पिता की छाती को बिना आग जला रही हैं। धन के पीछे आंख बन्द कर दौड़ने वालों! कुछ विचार करो। एक लड़की की सुख की उमंगों को दफना कर तुम्हारा कुल कभी फूल-फल न सकेगा। मनु जी की बात को स्मरण रखो—

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः॥

अपमानित स्त्रियां जिन घरों को शाप दे देती हैं, उनका विनाश इस प्रकार हो जाता है, जैसे परिवार को किसी ने विष देकर मारा हो।

सुना है आहे मज़लूमा में कुछ तासीर होती है।
दुआ जो दर्दमन्दों की वह अक्सर तीर होती है॥

फिर सोचिए तो सही, जिसने अपनी पुत्री दे दी उसने सब कुछ दे दिया। लड़की के पिता से बलपूर्वक धन मांगना, इससे अधिक पामरता हो नहीं सकती। एक सुसंस्कृत परिवार की सुशील कन्या तुम्हारे घर को स्वर्ग बना देगी। पैसे के प्रलोभन में यदि कूड़ा-कर्कट घर में भर लिया तो सारे जीवन शूलों की सेज पर करवट बदलते रहिए। गृहस्थ में सुशील कन्या का क्या महत्त्व है? इस विषय में देहात के एक वृद्ध ने हमें एक बात सुनाई। मेरे ऊपर उसका विशेष प्रभाव हुआ। उस उपयोगी परामर्श से मैं अपने पाठकों को भी वंचित नहीं रखना चाहता।

दो जमींदार, जो भिन्न-भिन्न समीप के ग्रामों में रहते थे, परस्पर घनिष्ठ मित्र थे। एक दूसरे के घर बेरोक-टोक खुला आना-जाना था। एक बार एक मित्र ऐसे समय दूसरे के घर पहुंचा जब मित्र घर नहीं था और मित्र की पत्नी सप्ताह भर के मक्खन का घी बनाकर दूसरे पात्र में डालने की तैयारी कर रही थी। इतनी देर में यह जमींदार आ पहुंचा और बातचीत करने लगा। इधर उसके मित्र की पत्नी ने उससे बातें करते-करते अपने गले की हंसली (एक प्रकार का

आभूषण) उतार कर एक मिट्टी के बर्तन में रख दी। (अब से २०-२५ वर्ष पहले तक देहात में सन्दूकों का प्रचलन नहीं था। देहात के लोग मिट्टी के बर्तनों में ही कपड़े, पैसे और आभूषण रख दिया करते थे।) बातों में ध्यान लगा होने के कारण गर्म किया हुआ घी उसी पात्र में डाल दिया, जिसमें हंसली पड़ी हुई थी। कुछ देर बात-चीत करके मित्र चला गया और पात्र में डाला हुआ घी जम गया। सम्पन्न स्थिति के जमींदार सर्दियों में घी जमा कर लेते हैं और गर्मियों में जब घी महंगा हो जाता है तब बेचते हैं। चार-छः दिन के बाद देवी को कार्यवश कहीं दूसरे ग्राम में जाना था। वहां जाने के लिए उसने हंसली पहननी चाही। सब बर्तनों में उसने हंसली टटोली, पर कहीं न मिली। फिर उसको ध्यान आया कि मैंने हंसली तभी गले में से निकाली थी, जब उस दिन मेरे पति का मित्र आया था तो कहीं वह ही तो नहीं ले गया? नहीं तो यहां घर में से कौन ले जाता? उसनें अपने पति को बुलाया और उसे सारी बात कही और अपने पति से आग्रहपूर्वक कहा कि आप उससे इतना पूछ आइये कि वह ले गया है या नहीं?

उसके पति ने कहा कि वह कभी नहीं ले जा सकता। उससे इस प्रकार पूछना भी ठीक नहीं है। किन्तु देवी ने आग्रह करके विवश कर दिया कि पूछने में क्या हानि है! अगत्या उसको जाना पड़ा। उसने जाकर बड़े ही संकोच से अपने मित्र से कहा। भाई, एक बात पूछने आया हूं, बुरा मत मानना।

तुम उस दिन जब मेरे परोक्ष में मेरे घर में गए थे तो मेरी पत्नी ने अपने गले की हंसली तभी निकालकर रखी थी। उसे जिन-जिन बर्तनों का ध्यान था, उसने सब जगह देखली है। किन्तु मिल नहीं रही है। तो उसने तुमसे पुछवाया है कि कहीं तुमने तो नहीं देखी? वह जमींदार बहुत समझदार था। उसने विचार किया कि जब ये इतने नीचे उतर आए हैं कि मुझसे पूछने तक आ गए हैं तो मेरे निषेध करने पर इन्हें कब यह विश्वास हो पायेगा कि मैं नहीं लाया

और मैं ठीक ही कह रहा हूं। मेरा और इनका संबंध बहुत पुराना है और केवल हंसली के ऊपर इस सम्बन्ध को बिगाड़ना नहीं चाहिए। हमारी मित्रता के सामने हंसली का मूल्य तो नगण्य है। यह सोच कर उसने उत्तर दिया, कि हां भाई, वह हंसली मैं ही ले आया था। दूसरे मित्र ने कहा, भाई तुम लाए क्यों थे ? और तुमने बताया क्यों नहीं ? उसने उत्तर दिया—ले तो मैं इस विचार से आया था कि तुम्हारी पत्नी का शरीर तो लम्बा चौड़ा है किन्तु हंसली बिलकुल पतली सी है। कुछ उसके गले में जंचती नहीं है। अतः मैंने विचार किया कि भाभी के शरीर के अनुरूप इसे कुछ भारी करके बनवा दूं। बताया इसलिए नहीं कि बताकर वह न लाने देती और न तुम लोग मेरे उस प्रस्ताव को स्वीकार ही करते। अब मैं शीघ्र ही बनवाकर तुम्हें पहुंचा दूंगा। यह सुनकर वह जमींदार लौट आया और अपनी पत्नी को सारी बात सुनादी। उसने भी एक सुनार को आर्डर देकर एक भारी सी हंसली तैयार कराई और उसके घर पहुंचा आया। बात समाप्त हो गई। थोड़े दिन बाद जब ग्रीष्म ऋतु प्रारम्भ हुई तो घी का भाव महंगा होने पर उस जमींदार ने भी अपना घी बेचा और जिस पात्र में हंसली पड़ी हुई थी, घी खाली होने पर निकल आई। हंसली को देखते ही पति-पत्नी बहुत लज्जित हुए। जमींदार ने अपनी पत्नी को भला-बुरा कहा और हंसली लेकर तुरन्त अपने मित्र के पास पहुंचा। मित्र को उसकी हंसली वापस करते हुए कहा—तुम बड़े विचित्र व्यक्ति हो, जब तुम हंसली लाए ही नहीं थे तो तुमने यह क्यों कह दिया कि तुम हंसली लाए थे। हंसली तो भूल से तुम्हारी भाभी ने जिस पात्र में रखी उसी में घी डाल दिया, इसलिए नहीं मिल रही थी। आज हमारा घी बिका तो हंसली निकल आई। यह तुम अपनी हंसली वापस ले लो। मित्र ने उत्तर दिया, भाई जब तुम्हारे मन में यहां तक बात आ गई कि तुम मुझ से पूछने तक के लिए आ गए, तो मेरे न करने पर भी तुम्हें यह कैसे विश्वास होता कि मैं ठीक कह रहा हूं। अतः मेरी दृष्टि में हंसली की अपेक्षा तुम्हारी मित्रता का मूल्य अधिक था, इसलिए तुम्हारी

सन्देह-निवृत्ति के लिए मैं हसली बनवाकर दे आया। किन्तु अब मैं इसे वापस नहीं ले सकता। तुम्हारे घर में और मेरे घर में अन्तर ही क्या है? बहुत आग्रह करने पर भी उसने हंसली न ली और वह सहमा हुआ-सा अपने घर लौट आया। पत्नी को सारी बात सुनाई तो वह भी बहुत लज्जित हुई। जब भी समय मिलता दोनों अपनी भूल पर दुःखी होते और प्रतिकार का उपाय सोचते। एक दिन दोनों ने उस भार को उतार फेंकने का उपाय ढूंढ निकाला। उनके विवाह के योग्य कन्या थी और दूसरे जमींदार की सन्तानों में उसके विवाह के योग्य लड़का था। इन्होंने निश्चय किया कि अपनी पुत्री का विवाह उस लड़के के साथ कर दें और उसी को और वस्तुएं देने के साथ-साथ यह हंसली भी दे दें ताकि उसकी चीज उसके घर पहुंच जावे और हमारा मुख उज्ज्वल हो जावे।

इस मन्त्रणा के पश्चात् वह इस प्रस्ताव को लेकर अपने मित्र के पास गया और कहा—देखो भाई, हम और तुम दोनों पुराने मित्र हैं। हमारी आपस में निभी भी खूब है। मैं अब यह चाहता हूं कि हमारी यह मित्रता हम तुम तक ही न रहकर और आगे तक बढ़े। इसलिए आज एक प्रस्ताव लेकर आया हूं। आशा है तुम उसे स्वीकार करोगे। इस बात को सुनते ही उस जमींदार ने कहा—भाई, मैंने अपनी छोटी कन्या का विवाह तुम्हारे बीच के लड़के के साथ करने का निश्चय किया हुआ है। इसलिए इसके अतिरिक्त कोई बात हो तो तुम प्रसन्नता से कहो, मैं अवश्य मानूंगा। उसने कहा, भाई, मैं अपनी लड़की का सम्बन्ध तुम्हारे पुत्र के साथ करना चाहता हूं। मित्र ने हंसकर कहा! मैं तुम्हारा मित्र हूं इसलिए तुम्हारे हित की ही बात सोच रहा हूं और तुम मेरे ऐसे मित्र हो जो शत्रु का-सा व्यवहार करना चाहते हो। मैं चाहता हूं कि मेरी सुशील और गुणवती पुत्री तुम्हारे घर में जावे और बुढ़ापे में तुम्हारी सेवा करे। किन्तु यदि तुम्हारी पुत्री मेरे घर में आवेगी तो तुम्हारी उसी पत्नी के संस्कार लेकर आवेगी जिसने तुम्हारे मित्र के ऊपर हंसली उठाने का संदेह

इन बातों पर ध्यान देते हैं ? पैसा यदि है तो कोढ़ी-कलंकी का भी सबसे सम्बन्ध जुड़ सकता है और यदि टके नहीं हैं तो भले ही आप विद्वान्, आचरणवान् और उत्तम कोटि के मनुष्य क्यों न हों, आप सम्बन्ध के योग्य नहीं। और आश्चर्य की बात तो यह है कि लोग इतने प्रमाद पर भी फिर स्वर्ग की कल्पना करना चाहते हैं। ठीक कहा है डार्विन ने—

"Man sees with scrupulous care the character and pedigree of his horses and dogs before he matches them. But when he comes to his own marriage he rarely or never takes such care." अर्थात् जब मनुष्य अपने गधे, घोडे और कुत्ते की नस्ल को बढ़ाना चाहता है तब एक-एक बात को बड़ी सावधानी से देखता है। किन्तु जब उसके अपने विवाह का अर्थात् नस्ल के बढ़ाने का प्रश्न होता है तो कदाचित् ही उसने इतना ध्यान दिया हो, जितना कि पशु-पक्षियों की नस्ल के समय देता है।

तो गृहस्थ को स्वर्ग बनाने के लिए पहली बात यह है कि गुण कर्म स्वभाव के अनुसार वर और वधू के जोड़े मिलाये जावें।

॥ इति तृतीयः परिच्छेदः ॥

४ :

पति-पत्नी सम्बन्ध

गृहस्थ जीवन का सुखी और शान्त बनाने के लिये वेद और नीतिशास्त्रों में अमूल्य उपदेश यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। इस परिच्छेद में कतिपय अत्युपयोगी वेद और शास्त्रीय वचनों का उल्लेख किया जाता है। गृहस्थ में सुख प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम वेद उपदेश करता है कि पति और पत्नी का परस्पर अगाध प्रेम और दृढ़ विश्वास होना चाहिये। वेद का वह अमृतमय उपदेश निम्न है—

इहेमाविन्द्र सन्नुद चक्रवाकेव दम्पती ।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ।। अथर्व ।।

हे माता-पिता, गुरु और राजाओ ! तुम अपनी सन्तान, शिष्य और प्रजाओं को ऐसी प्रेरणा करो कि गृहस्थ में पति-पत्नी चकवा-चकवी के समान प्रेम से रहते हुए उत्तम सन्तान से युक्त होकर सम्पूर्ण आयु सुखपूर्वक भोगें। वेद ने पति और पत्नी के प्रेम को, चकवा और चकवी के प्रेम से उपमा दी है। ऐसा लोकप्रसिद्ध है कि चकवा और चकवी दिन में तो मिले रहे आते हैं, किन्तु ज्योंही दिन छिपने लगता है पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। यदि एक वृक्ष पर हैं तो एक, एक ओर की शाखा पर होगा और दूसरा, दूसरी ओर की शाखा पर। यदि किसी तालाब या नदी के तट पर हैं तब भी एक इस पार और दूसरा उस पार। पर रात का कोई क्षण ऐसा नहीं होता जबकि चकवा चकवी को, और चकवी चकवा को याद न करती हो। इस वियोग में दोनों कितने व्याकुल रहते हैं, यह मनोहारी वर्णन एक संस्कृत-कवि के शब्दों में पढ़िये—

मित्रे क्वापि गते सरोरुहवने बद्धानने ताम्यति ।
क्रन्दत्सु भ्रमरेषु वीक्ष्य दयितासन्नं पुरः सारसम् ।।
चक्राह्वेन वियोगिना बिसलता नास्वादिता नोज्झिता ।
कण्ठे केवलमर्गलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छतः ।।

प्रकृति के नियमानुसार कमलवन में चकवी के कहीं चले जाने पर जब चकवा तड़प रहा था तभी भ्रमरों के गुँजार में उसने सारस के साथ अपनी प्रियतमा को देखा। वियोगी चक्रवाक को यह दृश्य असह्य हो गया और वह अपनी चोंच में कमलनाल दबाकर बैठ गया। उस कमल तन्तु को उसने न अन्दर निगला और न बाहर थूका मानो उसने अपने प्राणों को रोकने के लिये केवल कार्क लगा दिया कि यदि प्राणों के निरोध का कोई उपाय नहीं हुआ तो निःसन्देह मेरे प्राण पखेरू उड़ जावेंगे और यदि रात कट गई तो प्रातः तो प्रियतमा को देखकर में हराभरा हो ही जाऊंगा। वास्तव में पतिव्रता पत्नी और पत्नीव्रती पति में इसी प्रकार की अनुरक्ति होनी चाहिये। भगवान् राम और माता सीता के पारस्परिक प्रेम की व्याख्या में इस मन्त्र को आप पूरा घटता हुआ देखेंगे।

मारीच को मारकर जब राम लक्ष्मण सहित कुटिया पर पहुंचे और वहां सीता को न देखकर एक साथ अचेत हो गये और लक्ष्मण को कहने लगे। हनुमन्नाटककार के शब्दों में सुनिये—

के यूयं वद नाथ नाथ किमिदं दासोऽस्मि ते लक्ष्मणः,
कोऽहं वत्स स आर्य एव भगवान् आर्यः स कः राघवः।
किं कुर्मो विजने वने तत इतो देवी समुद्वीक्ष्यते,
का देवी जनकाधिराजतनया हाहा प्रिये जानकि !

राम ने लक्ष्मण को कहा तुम कौन हो ? लक्ष्मण ने कहा हे नाथ यह क्या ? मैं तो आपका दास लक्ष्मण हूं। आगे राम ने पूछा मैं कौन हूं ? लक्ष्मण ने उत्तर दिया आप आर्य हैं। राम ने पूछा कौन आर्य ? उत्तर मिला, राघव। इस जंगल में हम दोनों क्यों घूमते

फिरते हैं ? लक्ष्मण ने उत्तर दिया। देवी को खोजते फिरते हैं। कौन देवी ? जनक पुत्री सीता। यह सुनकर राम हा हा प्रिये जानकी कहने लगे। राम राजकुमार थे। उनके लिये स्त्रियों की क्या कमी थी ! पर प्रेम का सम्बन्ध तो हृदय से है। यह कोई व्यापार नहीं है कि "स्वार्थं साधयेद्धीमान्-स्वार्थभ्रंशो ही मूर्खता" केवल मनुष्य स्वार्थ को साधता जावे। स्वार्थ का सिद्ध न होना ही मूर्खता है।

उधर माता सीता की अवस्था भी देख लीजिये। गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में हनुमान् ने लंका से चलते समय सीता से पूछा कि राम को कोई संदेश दीजिये। यह सुनते ही सीता का हृदय भर आया और हनुमान् को कहा कि मेरी ओर से महाराज राम से यह कहना कि—

मन वच कर्म चरण अनुरागी।
कारण कवन नाथ मोही त्यागी॥

मैं मन वचन और कर्म से जब राम के चरणों में प्रेम रखती थी तो फिर क्या अपराध हुआ कि उन्होंने मुझे भुला दिया ? फिर अपने आप ही विचार कर कहा कि—

कारण नाथ एक मैं जाना।
बिछुरत प्रान न कीन पयाना॥

हां, मेरी दृष्टि में बस एक ही अपराध है कि आपसे बिछुड़ कर मैं मरी नहीं जीवित हूं और सम्भवतः आप सोचते होंगे कि जैसे मछली पानी से पृथक् होकर तड़प-तड़प कर मर जाती है उसी प्रकार सीता को भी मर जाना चाहिये था। किन्तु यह भी मेरा अपराध नहीं है। आगे कहा

नाथ सो नैनन करि अपराधा।
निकसत प्राण करें हठ बाधा॥

स्वामिन् यह अपराध मेरी आंखों का है क्योंकि जब-जब मेरे प्राण निकलने लगते हैं तब-तब ये आंखें बाधा डाल देती हैं। वह किस-प्रकार ?

नैन स्रवहिं जल निज हित लागी ।
जरहि न जाय देह विरहागी ॥

जब-जब वियोग की आग जलकर शरीर को भस्म करने लगती है तब-तब ये आंखें पानी बरसा कर अग्नि को बुझा देती हैं। इसी लिये मैं अब तक जीवित हूं। नहीं तो मैं कभी की मर गयी होती। अब देख लीजिये कि "चक्रवाकेव दम्पती" की व्याख्या है कि नहीं? वास्तव में गृहस्थ में पारस्परिक आकर्षण के बिना कोई रस नहीं। ठीक ही कहा है—

उलफत का तब मजा है दोनों हों बेकरार ।
हो दोनों तरफ से आग बराबर लगी हुई ॥

इसी आशय को एक संस्कृत के कवि ने भी निराले ही ढंग से कहा है।

नाथेति परुषवचनं प्रियेति दासेत्यनुग्रहो यत्र ।
तद्दाम्पत्यमितोऽन्यन्नारी रज्जुः पशुः पुरुषः ॥

जहां नाथ शब्द का प्रयोग (अधिकार वाचक होने के कारण) कठोर समझा जाता हो, प्रिया और दास शब्द का प्रयोग प्रेमसूचक। उसी दाम्पत्य-जीवन में आनन्द है। इससे भिन्न स्थिति में तो स्त्री रस्सी है जिसमें पुरुष रूपी पशु बंधा हुआ पड़ा है। मनु जी ने एक दूसरे प्रकार से यही उपदेश दिया है—

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥

जिस परिवार में पति-पत्नी परस्पर प्रसन्न हैं। वहां कल्याण निश्चित है। तो गृहस्थ में सुखी बनने के लिये प्रथम परस्पर की असीम अनुरक्ति होनी चाहिये। दूसरे नम्बर पर उत्तरोत्तर उस प्रेम के संवर्धन के लिये वेद-शास्त्र-वर्णित साधनों का अनुष्ठान करना चाहिये। पति और पत्नी के हृदय-क्षेत्र में स्नेहलता तो उसी दिन

से अंकुरित होने लगती है जब से सम्बन्ध निश्चित होता है। यदि दोनों बुद्धिमान् और विवेकी हैं तो एक-दूसरे के अनुकूल व्यवहार करके उस प्रेम को बढ़ा लेते हैं और इसके विपरीत यदि "राम मिलाई जोड़ी" है तो वह स्नेहलता वहीं मुर्झा जाती है। प्रेमसंवर्धन का सर्वश्रेष्ठ उपाय अथर्ववेद के तीसरे काण्ड के ३० वें सूक्त के दूसरे मन्त्र में इस प्रकार बताया है —

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्।

पत्नी पति के लिए शान्तिकारक और मीठे वचनों का प्रयोग करे। इसी प्रकार अर्थापत्ति से पति को भी मीठी भाषा का प्रयोग करना चाहिये। वाणी के सदुपयोग से संसार में मित्रों की वृद्धि होती है और उसके दुरुपयोग से शत्रु बढ़ते जाते हैं। प्रायः आजकल घरों में इस ओर बहुत कम सावधानी बरती जाती है। कब और किस भाषा का प्रयोग करें, यह ज्ञान बहुत आवश्यक है। हम देखते हैं कि अपने दफ्तर को जाते हुए पतिदेव को देवी ने घर की कुछ आवश्यक वस्तुओं की सूची शाम को लाने के लिये सुनादी, उन्होंने भी हां कर दी। किन्तु काम की कार्यालय में वह झड़ी लगी की बेचारे को सांस लेना भी कठिन रहा और इसी उलझन में देवी जी की आज्ञा का पालन न हो सका। पति महाशय घर को आये। अभी साईकिल भी हाथ में से न रखी थी कि श्रीमती जी ने पूछा—जो वस्तुएं आपको लाने को कहीं थी आप ले आये? बस उत्तर में 'नहीं' का सुनना था कि देवी जी बरस पड़ीं। "आपको हमारी बात का तो ध्यान ही नहीं रहता। ध्यान तो तब हो जब घर चलाना पड़े आदि-आदि। अब आप ही विचारिये ८ घंटों के काम से चूर होकर लौटने पर जिन घरों में इन अमृत-वचनों से सत्कार हो, क्या वहां रहने वाला व्यक्ति भी यह अनुभव करेगा कि मैं स्वर्ग में रहता हूं? उसके सामने तो जेलखाने का दृश्य होगा कि मैं बन्दी हूं और जेलर साहब हैं जो डाट-डपट रहे हैं।

इस प्रकार का अशिष्ट व्यवहार कदापि न होना चाहिये। पति के बाहर से आने पर और जलपानादि के पश्चात् शान्त होने पर किसी प्रसंग में अपनी बात पूछनी चाहिये। भाषण के विषय में वेद का निम्न उपदेश सदा स्मरण रखना चाहिये—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।

वेद कहता है हे संसार के लोगों! जिस प्रकार सत्तू अथवा आटे को गूंदने से पहले उसे छाननी में छानकर देख लेते हो कि कहीं ऐसा न हो कि कोई ऐसी वस्तु पेट में चली जावे जो दर्द पैदा करे। ठीक उसी प्रकार शब्द रूपी आटे को भी अपनी बुद्धि रूपी छाननी में छान-छान कर बोला करो। क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि कोई बिना सोचे समझे इस प्रकार का शब्द निकल जावे जो दूसरों के हृदय में जाकर चुभे और वेदना उत्पन्न करे।

यदि क्रोधवश किसी से कभी कठोर भाषण हो ही जावे। क्योंकि कितने ही सधे हुए स्वभाव का मनुष्य क्यों न हो, कभी-कभी तो कामक्रोधादि के दबाव में आ ही जाता है। महात्मा गांधी जी कितने अहिंसा के उपासक और शान्तप्रकृति के व्यक्ति कहे जाते हैं -- किन्तु ऐसा व्यक्ति भी क्रोधवश कभी कितना आपे से बाहर हो सकता है, इसका वर्णन स्वयं उन्होंने अपनी आत्मकथा में किया है।

यहां उस बात को उद्धृत किया जाता है। वे लिखते हैं "जिस समय मैं डर्बन में वकालत करता था उस समय बहुत बार मेरे कारकुन मेरे साथ ही रहते थे। वे खासकर हिन्दू और ईसाई होते थे, अथवा प्रान्तों के हिसाब से कहें तो गुजराती और मद्रासी। मुझे याद नहीं आता कि कभी उनके विषय में मेरे मन में भेदभाव पैदा हुआ हो। मैं उन्हें बिलकुल घर के जैसा समझता और उसमें मेरी धर्मपत्नी की ओर से यदि कोई विघ्न उपस्थित होता तो मैं उससे लड़ता था। मेरा एक कारकुन ईसाई था। उसके मां-बाप पंचम जाति के थे।

हमारे घर की बंधाई पश्चिमी ढंग की थी। इस कारण कमरे में मोरी नहीं होती थी और न होनी ही चाहिये थी। ऐसा मेरा मत है। इस कारण कमरों में मोरियों की जगह पेशाब के लिए एक अलग बर्तन होता था। उसे साफ करने का काम हम दोनों दम्पती का था, नौकरों का नहीं। हां, वे कारकुन लोग जो अपने को हमारा कुटुम्बी-सा मानने लगे थे वे तो खुद ही उसे साफ कर भी डालते थे लेकिन ये पंचम जाति में जन्मे कारकुन नये थे। उनका बरतन हमें ही उठाकर साफ करना चाहिये था और बरतनों को कस्तूरबाई उठाकर साफ कर देती, लेकिन इन भाई का बरतन उठाना उसे असह्य मालूम हुआ, इससे हम दोनों में आपस में खूब चली। यदि मैं उठाता हूं तो उसे अच्छा नहीं मालूम होता था और खुद उसके लिए उठाना कठिन था। फिर भी आंखों से मोती की बूंदें टपक रही हैं, एक हाथ में बरतन है और अपनी लाल आंखों से उलाहना देती हुई कस्तूरबाई सीढ़ियों से उतर रही है। वह चित्र आज भी मैं ज्यों का त्यों खींच सकता हूं।

परन्तु मैं जैसा सहृदय और प्रेमी पति था वैसा ही निठुर और कठोर भी था। मैं अपने को उसका शिक्षक मानता था। इससे अपने अन्ध प्रेम के अधीन हो, मैं उसे खूब सताता था। इस कारण महज उसके बरतन उठा ले जाने भर से मुझे सन्तोष न हुआ। मैंने यह भी चाहा कि वह हंसते और हरखते हुए उसे ले जाय। इसलिए मैंने उसे डांटा-डपटा भी। मैंने उत्तेजित होकर कहा—"देखो, यह वखेड़ा मेरे घरमें न चल सकेगा।"

मेरा यह वोल कस्तूरबाई को तीर की तरह लगा। उसने धधकते हुए दिल से कहा—,'तो लो रक्खो यह अपना घर ! मैं चली।"

उस समय मैं ईश्वर को भूल गया था। दया का लेशमात्र मेरे हृदय में न रह गया था। मैंने उसका हाथ पकड़ा। सीढ़ी के सामने ही बाहर निकलने का दरवाजा था। मैं उस दीन अबला का हाथ पकड़

पर दरवाजे तक खींचकर ले गया। दरवाजा आधा खोला होगा कि आंखों में गंगा-जमुना बहाती हुई कस्तूरबाई बोली—

"तुम्हें तो कुछ शरम है नहीं, पर मुझे है। जरा तो लजाओ। मैं बाहर निकलकर आखिर जाऊं कहां ? मां बाप भी यहां नहीं कि उनके पास चली जाऊं ! मैं ठहरी स्त्री जाति। इसलिए मुझे तुम्हारी धौंस सहनी ही पड़ेगी। अब जरा शरम करो और दरवाजा बन्द करलो—कोई देख लेगा तो दोनों की फजीहत होगी।"

मैंने अपना चेहरा तो सुर्ख बनाए रक्खा—पर मन में शरमा जरूर गया। दरवाजा बन्द कर दिया जब कि पत्नी मुझे छोड़ नहीं सकती थी, तब मैं भी उसे छोड़कर कहां जा सकता था ! इस तरह हमारे लड़ाई-झगड़े कई बार हुए हैं।"

यहां इस बात को उद्धृत करने से मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि कभी-कभी न चाहते हुए भी मनुष्य को क्रोध आ जाता है। वे मनुष्य बहुत ही बुद्धिमान् हैं जो क्रोध आने पर चुप होकर बैठ जाते हैं, आप देखते हैं क्रोध आने पर अच्छे से अच्छे मनुष्य की जीभ लड़-खड़ा जाती है, शब्द टूटते-फूटते निकलते हैं। मानो वाणी क्रोधी को हाथ जोड़कर कह रही है—कि जब तक तू इस राक्षस से अभिभूत है—मैं तेरे पास नहीं आना चाहती। क्योंकि इस समय तू रसना से भी नीरस और विषदग्ध वाग्बाणों की वर्षा करेगा। पर कोई मनुष्य इस स्तर से भी नीचा उतर जावे और कठोर भाषण कर ही बैठे तो फिर शान्ति को बनाये रखने का एक ही उपाय है कि उन शब्दों को अपने चित्त पर न जमने दे, भुला दे। क्योंकि वे शब्द ऐसे समय कहे गये हैं जब कि क्रोध ने बेचारे का विवेक ही नष्ट कर दिया था, जिस प्रकार हम पागल की बात को हंसकर टाल देते हैं, उसी प्रकार क्रोध में कहे कटु वचनों को भी उससे अधिक महत्व नहीं देना चाहिये। इस बात को व्यवहार्य बनाने की दृष्टि से मैं यहां एक रामायण की बात उद्धृत किये देता हूं।

राम जब बन को प्रस्थान करने लगे तो सीता के विषय में उन्होंने माता की इच्छा को जानना चाहा कि वे सीता को यहां रखना चाहती हैं अथवा मेरे साथ भेजना चाहती हैं। माता कौशल्या ने स्नेह से कहा बेटा ! तेरे पीछे मुझे मां कहकर पुकारने वाली सीता भी रह जायेगी तो इससे भी मुझे बहुत सहारा मिलेगा। राम तो थे ही मातृभक्त। यह बात सुनते ही उन्होंने सीता को घर रहने पर सहमत करने के लिए अपनी सारी योग्यता व्यय कर दी। किन्तु सीता सभी युक्तियों को काटती चली और वह राम की एक युक्ति से भी प्रभावित नहीं हुई। यह देखकर राम ने अपने मन में सोचा कि स्त्रियां कुछ भीरु होती हैं। इसलिए सीता को जंगल के कष्टों से डराना चाहिये, यह तब मानेंगी।

राम ने कहा सीता! वन में रहना बहुत कठिन है, कभी खाने को मिलेगा कभी नहीं। कभी कन्दमूल फलों पर ही निर्वाह करना पड़ेगा, भयंकर भालू और हाथी चिंघाड़ेंगे, सिंह गर्जेंगे और इनसे भी भयंकर बात यह है कि वन में राक्षस घूमते रहते हैं जो स्त्री और पुरुषों को उठाकर ले जाते हैं। सीता ने ज्यों ही राम के मुख से राक्षसों के द्वारा उठाये जाने वाली बात सुनी—तो आंखें लाल कर राम की ओर देखते हुए कहा—

किं त्वामन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः।
राम जन्मातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम्॥

मिथिला के राजा मेरे पिता जनक को कभी यह कल्पना भी न हुई होगी कि जिस राम को मैं अपना दामाद बना रहा हूं वह बाहर से देखने में ही पुरुष प्रतीत होता है किन्तु अन्दर से वह स्त्री है। अब थोड़ा सा ध्यान दीजिये सीता के वचनों की कठोरता पर। एक पुरुष के लिये इससे अधिक और कठोर वचन नहीं हो सकते कि उसके पुंस्त्व को चुनौती दी जावे। किन्तु राम इस बात को चुपचाप सहन कर गये और एक साथ बातचीत को समाप्त करते हुए कहने लगे:—

अच्छा, देर बहुत हो गई है। यदि तुम्हारा यही आग्रह है तो तैयारी करो। इसके पश्चात् भी सारी रामायण को देख जाइए कहीं गिला-शिकवा और उलाहने के लिए एक भी शब्द आपको देखने को न मिलेगा। इस उपाय को व्यवहार में लाये बिना घर और समाज में निर्वाह नहीं हो सकता। क्यों कि यह तो असम्भव है कि परिवार के सब व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य से ऊपर उठ जावें। जब समय-समय पर हम इनके वशीभूत हो जाते हैं और न चाहते हुए भी मर्यादा का अतिक्रमण कर बैठते हैं तो इसके आगे के लिये सहनशीलता के अतिरिक्त मार्ग ही क्या है ?

तलाक

आज के पाश्चात्य वायुमण्डल में पला व्यक्ति एक साथ बोल उठेगा कि ऐसी अवस्था में तलाक हो जाना चाहिए। जब पति-पत्नी में से कोई, एक दूसरे के साथ अभद्र व्यवहार करे तो उसे छोड़कर दूसरे अनुकूल साथी को चुन लेना चाहिए।

इस दिशा में निवेदन है कि तलाक का मार्ग एक भयंकर मार्ग है। इस पर पैर रखकर कभी शान्ति नहीं प्राप्त की जा सकती। इस तलाक के परिणामस्वरूप पश्चिम के देशों के गृहस्थ उजड़ गये हैं। उन गृहस्थों में एक पवित्र आत्मीयता का सूत्र जो पति-पत्नी में होना चाहिए, वह नष्ट हो गया है। वहां विवाह एक तुच्छ स्वार्थ की पूर्ति का गठबन्धन मात्र रह गया है और उस स्वार्थ को थोड़ी-सी भी ठेस लगने पर तोड़ फैंका जा सकता है।

मेरा तो यह निश्चय है कि तलाक ने आज तक कहीं भी कुछ सुधार नहीं किया अपितु परिस्थिति विषम से विषमतर बनायी है। यदि उन देशों और जातियों में तलाक न होता तो अनेक व्यक्ति पाप से बच जाते और उन निरीह अबलाओं पर भी इस प्रकार विपत्ति का पहाड़ न टूटता। हम पहले कह चुके हैं कि कोई भी व्यक्ति पूर्ण नहीं है। न चाहते हुए भी क्रोध आदि का आक्रमण हो

जाता है। ऐसे समय में पति-पत्नी को सहिष्णुता से ही काम लेना पड़ता है और लेना भी चाहिए। आपने देखा कि म० गान्धी जैसे सुलझे हुए व्यक्ति ने भी अपनी पत्नी से कितना अनुचित और क्रूर व्यवहार किया। निश्चित ही तलाक की प्रथा प्रचलित होती तो ऐसी अवस्था में तलाक हो जाता। और यदि ऐसा हुआ होता तो क्या आदर्श रहता 'बा' और गान्धी जी के जीवन का। फिर इसका भी क्या विश्वास है कि इस तलाक के पश्चात् जो अगला चुनाव हो रहा है, उनमें से किसी को क्रोध नहीं आवेगा। और यदि जीवन में इसी प्रकार पकड़ा-छोड़ी का दौर रहेगा तो राष्ट्र का विनाश हो जायेगा। प्रायः तलाक के समय सन्तान की तो बहुत ही दुर्दशा होती है। पति समझता है यह तो जा रही है, इस बच्चे को भी साथ ही ले जावे। उधर स्त्री विचार करती है कि यह बालक पिछले पति के पास ही छूट जावे, ताकि भावी पति पर कोई बोझ न लदे। इस स्थिति में माता-पिता के रहते हुए भी बालक अनाथ हो गया और इस प्रकार के बच्चों की संख्या यदि पर्याप्त हो तो बताइये इस अनाथालय को कौन सम्भालेगा? यह बात कोरी कल्पना नहीं है। अमेरिका आदि देशों में अनेक स्त्रियां बीसियों बार तलाक देती हैं। मिसेज ईगर नाम की एक अमेरिकन लेडी ने जब अपने २३ वें पति को तलाक दिया तो अमेरिका के अखबारों के नुमाइन्दों की भीड़ उसके अनुभव पूछने के लिए एकत्र हो गयी। क्या विचित्र स्थिति है? कहां भारत का वह प्राचीन आदर्श और कहां यह नारकीय जीवन? उदाहरण के लिए परित्यक्ता सीता की राम की ओर क्या भावना थी इस पर दृष्टि डालिए। यद्यपि सीता का परित्याग कल्पना मात्र है। वास्तव में ऐसा हुआ नहीं, पर कल्पना भी तो वायुमण्डल के अनुरूप ही की जाती है। विपरीत मानसिक स्थिति में यह कल्पना भी तो नहीं हो सकती।

परित्यक्ता सीता की भावना को कविवर कालिदास ने इन शब्दों में प्रकट किया है :—

साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वंप्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जन्मान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः।

कि जब तक मेरा जीवन शेष है मैं भगवान् से यही प्रार्थना किया करूंगी कि आने वाले जन्म में मैं यदि स्त्री बनूं तो राम ही मेरे पति हों। किन्तु जिस प्रकार इस जन्म में दो बार उनका वियोग हुआ है, यह न हो। कितनी निष्ठा, भक्ति और तन्मयता है ? अब यह भावना आज की सौदेबाजी में कहां मिलेगी ?

मनोविज्ञान और अनुभव दोनों इस बात को पुष्ट करते हैं कि जहां मनुष्य यह देखता है कि यहाँ मुझे अवश्य रहना है यहाँ से कहीं भाग निकलना सम्भव नहीं, वहां वह कुछ अनुकूल उपाय निकाल ही लेता है और कुछ समय के पश्चात् उसके मार्ग की सब कठिनाइयां भी दूर हो जाती हैं। इसके विपरीत जहां से उसे भागने की गुञ्जाइश है वहां वह थोड़ी-थोड़ी बात पर उदास हो जाता है और भागने की फिराक में रहता है। हम लोग अपने परिवारों में देखते हैं, अनेक देवियां अनेक प्रकार की कठिनाइयों का दृढ़ता से सान्मुख्य करती हैं और शनैः शनैः अपनी प्रतिकूलताओं पर विजय प्राप्त करती हैं। इसी प्रकार अनेक पुरुष भी प्रारम्भ में अपनी सहधर्मिणी को अपने प्रतिगामी स्वभाव की देखते हैं और विचारते हैं कि रहना तो इसी के साथ है, धीरे-धीरे उसके स्वभाव में परिवर्तन लाते हैं, कुछ स्वयं-परिवर्तित होते हैं और अपने गृहस्थ की नैया को उस पार ले जाते हैं। इस दिशा में मौलाना रूम का उदाहरण हम गृहस्थियों के लिए बहुत उपदेशप्रद होगा।

मौलाना रूम मुसलमानों के एक बहुत प्रसिद्ध बुजुर्ग हुए हैं। अपने समय में वे अपनी विद्वत्ता और धार्मिकता के लिए अत्यन्त विख्यात थे। एक पठान के मन में मौलाना से कुछ पूछने और उनके दर्शन करने की भावना उत्पन्न हुई। वह दूर की यात्रा करके मौलाना के शहर में पहुंचा। लोगों से पूछता-ताछता मौलाना के घर भी जा

पहुंचा। घर में झांक कर देखा तो वहां उसे एक देवी दिखलायी दी। कोई पुरुष वहां विद्यमान नहीं था। इस आगुन्तक ने बड़ी नम्रता से उस देवी से पूछा। मैं बड़ी दूर से मौलाना के दर्शन करने आया हूं। मौलाना कहाँ गए हैं? देवी ने पठान की बात सुनकर उत्तर दिया—जैसा पागल मौलाना है वैसा ही तू है। मुझे क्या पता है कि वह कहाँ गया होगा! पठान इस उत्तर को सुनकर बहुत चकित हुआ। सोचने लगा कहीं इतना परिश्रम व्यर्थ ही किया क्या? कहीं दूर के ढोल सुहावने वाली बात न हो? पर देवी के कठोर उत्तर को सुनकर उससे आगे कुछ पूछने का उसे साहस न हुआ। वहां से लौटकर एक दूसरे व्यक्ति से पूछा! भाई, मैं मौलाना के दर्शन करने आया था। वे इस समय अपने घर में नहीं हैं। कहां मिलेंगे वे? क्या तुम बता सकते हो? उस व्यक्ति ने उत्तर दिया। यह समय उनका जंगल से लकड़ी लाने का है। बस अब लौटने वाले होंगे। इसी मार्ग में आगे चले जाओ, आ ही रहे होंगे। पठान उस मार्ग पर कुछ आगे गया तो उसने देखा एक व्यक्ति लकड़ियाँ लिए हुए सामने से आ रहा है। इसने बहुत नम्रता से अभिवादन करके उसका परिचय पूछा तो वे मौलाना ही थे। पठान ने प्रार्थना की कि मैं बहुत दूर से केवल आपके दर्शन करने और कुछ शंका निवारण करने के लिए आया हूं।

मौलाना नें बड़े मधुर शब्दों में उस भक्त का स्वागत किया और अपने साथ-साथ आने को कहा। घर पहुंचकर मौलाना ने लकड़ियां यथास्थान रखकर, बैठक खोल दी और उसे बैठाया। घर में देवी से जाकर कहा - एक मेहमान आए हैं। उनको कुछ खिलाना-पिलाना चाहिए। देवी ने खाने-पीने को तो दे दिया, किन्तु देते हुए फिर दो चार महावाक्यों का प्रयोग कर दिया। तुम्हारे मेहमानों ने तंग कर रक्खा है। कोई दिन ऐसा नहीं जाता जब कोई न कोई आया हुआ न हो। मौलाना हंसते हुए खाने-पीने की चीजें ले गए और अतिथि के सामने रखकर खाने का अनुरोध किया। पठान ने भी शिष्टाचार

के नाते थोड़ा खा-पी लिया। इसके पश्चात् उसने मौलाना से अपनी शंका का समाधान किया और मौलाना ने भी बहुत सूझ-बूझ के साथ उसे उत्तर दिया। पठान को उस समाधान से अत्यन्त संतोष हुआ और धन्यवाद देकर चलने लगा। किन्तु चलते समय उसकी दृष्टि फिर उस देवी पर पड़ी—तो उसने मौलाना से कहा मुझे एक बात और आप से पूछनी है, वह यह कि कहां तो चन्द्रमा के समान शीतल प्रकृति के आप और कहां कर्कश स्वभाव की यह माता। आपने यह क्या मुसीबत गले में सहेड़ ली है। मौलाना ने हंसकर उत्तर दिया। भाई, वह अपरिचित व्यक्तियों की दृष्टि में अवश्य मुसीबत हो सकती है पर मेरे लिये यह साक्षात् देवी है। यदि यह मेरे घर में न होती तो आज मैं इतना प्रसिद्ध न होता कि तुम्हारे जैसे सैकड़ों व्यक्ति मेरे दर्शन के लिये आते। पठान ने कहा वह कैसे ? मौलाना ने उत्तर दिया - विवाह के समय मैं इससे भी अधिक कठोर स्वभाव का था। जब यह देवी घर में आई और इसने मेरी बातों के उत्तर में जब नहले पर दहला जमाया—तो मुझे ज्ञात हुआ कि कठोर वचन और क्रोध कितनी बुरी वस्तु है ? इससे दूसरों को कितना कष्ट होता होगा ? धीरे-धीरे मैंने अपने स्वभाव में परिवर्तन का व्रत लिया और आज मैं इस स्थिति में पहुंचा जो तुम देख रहे हो। इसमें भी तब से बड़े परिवर्तन हुए हैं। हमारी दोनों की अच्छी निभी है और हममें परस्पर अत्यन्त प्रेम है।

आपने देखा कि सर्वथा शुष्क और नीरस जीवन में भी यह कैसा मादक आनन्द का स्रोत फूटकर बह चला है। पर यह हुआ कब ? जब कि एक-दूसरे का साथ देने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं था। अन्यथा पहले दिन ही तलाक हो गया होता।

उधर तलाक ने ऐसे दुःखमय दृश्य उपस्थित किए हैं कि उन्हें देखकर अत्यन्त कष्ट होता है और मानवता लज्जित होती है। इस ने सिले हुए दिलों को फाड़कर रख दिया और सुपथ का अनुसरण

करने वाले मनुष्यों को पथ-भ्रष्ट बना डाला। हम अपने पाठकों पर इस तथ्य का प्रकाश करने के लिए पश्चिम की दो घटनाएं एक तलाक के प्रारम्भिक काल की, और एक निकट भूत की, और दोनों ही राजघरानों की उद्धृत करते हैं।

इंग्लैंड के राजा हैनरी अष्टम ऐसे रूढ़िवादी और परम्परानुगामी थे कि पोप के विरुद्ध आन्दोलन चलने पर भी उन्होंने पोप का ही पक्ष लिया और पोप के विरोधी मार्टिन लूथर के विरुद्ध पुस्तक लिखी। पोप ने प्रसन्न होकर हैनरी को "Defender of the faith" की उपाधि भी दी थी।

हैनरी की पत्नी कैथराइन एक पतिव्रता और साध्वी स्त्री थी। दोनों का परस्पर प्रेम भी बहुत था। किन्तु हुआ यह कि कुछ समय के पश्चात् हैनरी की दृष्टि एक सुन्दरी "ऐनबोलन" पर जा अटकी। वह उसे देखते ही विचलित हो उठा और उसे प्राप्त करने की सोचने लगा। उसने देखा कि पोप के धर्म में तो यह अवकाश है नहीं कि कैथराइन को छोड़कर नयी दुलहिन से विवाह रचाया जा सके। अतः ऐनबोलन को प्राप्त करना है तो पोप के धर्म को छोड़ना होगा। बस यही किया। ठीक लिखा है शास्त्रकार ने—

दिवा पश्यति नोलूको रात्रौ काको न पश्यति।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो दिवा नक्तं न पश्यति॥

उल्लू को दिन में नहीं दीखता और कौए को रात्रि में। किन्तु काम का अन्धा इस प्रकार का अन्धा है कि जिसको न रात में दीखता है न दिन में।

हैनरी ने अपना दल बदला और पोप के धर्म को छोड़कर प्रोटेस्टैण्ट मत ग्रहण किया। इस मत के अनुसार कैथराइन को तलाक दिया जा सकता था सो दे दिया। ऐनबोलन के साथ नयी उमंगों के साथ विवाह कर लिया।

ऐनबोलन पटरानी के रूप में अभिषिक्त होकर "ग्रीनटावर" के

भव्य भवन में रहने लगीं। किन्तु अभी इस मधुर स्वप्न को पूरे तीन वर्ष भी न हो पाये थे कि हैनरी की दृष्टि में एक और सुन्दरी समा गयी। इसका नाम था "जेनीसिमोर"।

हैनरी का मलिन मन अब इसे पाने की सोचने लगा। तीन वर्ष पहले जिस ऐनबोलन को इतने प्रेम से चुना था अब वह कांटे की तरह खटकने लगी और प्रिवीकाउन्सिल में उस पर झूठा मुकदमा चलवाया कि इसने मेरे साथ अभद्र व्यवहार किया है। राजा जिस अभियोग को स्वयं चलाये उसमें न्याय की क्या आशा? ऐनबोलन के बहुत कुछ कहने पर भी उसे मृत्युदण्ड दे दिया गया। यह अभियोग ऐनबोलन पर ११ मई १५३६ को चलाया गया और १९ मई को उसे तलवार के घाट उतार दिया गया। मरने से पहले ऐनब्रोलन ने वधस्थल पर उपस्थित दर्शकों को सम्बोधित करके कहा—ईसा के अनुयायियो! मरने के लिए आज मैं यहां पहुंची हूं। कानूनी दृष्टि से मैं अपराधिनी प्रमाणित हो चुकी हूं। इसलिए इसके विपरीत मुझे कुछ नहीं कहना। मैं ईश्वर से प्रार्थना करती हूं कि वह राजा को प्रसन्न रखे जिससे वह आप लोगों पर अधिक देर तक शासन कर सके। आपका राजा दयालु और उदार है। मेरे लिए वह अच्छा, उदार और सब कुछ था - यह कहते-कहते ऐनबोलन की सुन्दर आंखों में आंसू डबडबा आए और सुनने वाले "ओह" करके रह गए। इतने में जल्लाद की तलवार चमकी और ऐनबोलन इस संसार से विदा हो गयी।

अब बताइए, इस सारे विनाश की जड़ तलाक के अतिरिक्त और क्या है? यदि हैनरी को यह निश्चय होता कि एक पुरुष का सम्बन्ध एक स्त्री के साथ ही होता है और वह मेरा कैथराइन के साथ हो चुका। वह हारता झख मारता और शान्त होकर बैठा रहता। निःसन्देह इन तीन जीवनों का विनाश तलाक ने ही कराया।

इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण अष्टम ऐडवर्ड का है जिनको "ड्यूक आफ विण्डसर" कहा जाता है।

ऐडवर्ड महाशय ने सन् १९३१ में श्रीमती बैंजमिन द्वारा श्रीमती सैम्पसिन तथा श्रीमान् अर्नेस्ट सैम्पसिन को आमन्त्रित किया, श्रीमती सैम्पसिन को देखते ही ऐडवर्ड महोदय उसकी ओर आकृष्ट हुए। जाने आने का तांता बंधा। एक बार प्रिंस भूमध्य सागर की सैर करने निकले तो सैम्पसिन भी साथ चली। "नैइलिन" जहाज पर श्रीमती जी की यात्रा का प्रबन्ध किया गया। कभी नाव पर सैर होती तो सम्राट् स्वयं नाव चलाते। सैम्पसिन का बचपन का नाम वालिस वारफील्ड था। ओल्ड फील्ड्स स्कूल में इसने शिक्षा पायी। उस स्कूल में भी इसका आचार शुद्ध नहीं था। जब वारफील्ड की आयु १८ वर्ष की थी तो पैंसकोला के नाचघर में उसका परिचय अमेरिका के एक लैफ्टीनैन्ट से हुआ। इस लैफ्टीनैन्ट का नाम ई० विनफील्ड था। इस ई० विनफील्ड से मिस का विवाह हो गया। दोनों दो महीने तक बड़े प्रेम से रहे।

दो महीने के पश्चात् लैफ्टीनैन्ट को चीन जाने का आदेश मिला। वह चीन जाकर उसे भूल गया। कुछ समय के पश्चात् वारफील्ड स्वयं वहां गयी और अपने पति की दशा को देखकर अमेरिका लौट आयी। ६ दिसम्बर १९२७ को उसे तलाक दे दिया और २१ जुलाई १९२८ को मिस्टर अर्नेस्ट सैम्पसिन से विवाह कर लिया। इसके बाद ऐडवर्ड महोदय से परिचय हुआ और सन् ३४ में अर्नेस्ट को तलाक देकर ऐडवर्ड से विवाह किया और डचेज ऑफ विंडसर कहलाने लगी।

यहां भी आप देखेंगे कि ऐडवर्ड का यह पतन, तलाक के कारण ही हुआ। यदि उसके मन में यह निश्चय होता कि यह देवी अर्नेस्ट से पृथक् नहीं हो सकती तो उसके मन में यह आकर्षण ही उत्पन्न न होता। वह जानता था कि यदि यह आकृष्ट हो जावे तो इसे अर्नेस्ट से छीना जा सकता है।

कानून बनाने का उद्देश्य यह होता है कि लोगों की मनोवृत्ति

बुराई से हटकर भलाई की ओर आवे। यदि कानून बुराई को प्रोत्साहित करता है तो निःसन्देह वह कानून त्याज्य और हेय है।

पश्चिम के देशों में इंग्लैण्ड सबसे अधिक रूढ़िवादी देश है। वहां प्राचीन परम्पराओं को दृढ़ता से पालन करने का यत्न किया जाता है। एक ओर वे अभिमानपूर्वक अपने देश को जनता की स्वतन्त्रता की भावना का नेतृत्व करने वाला और प्रजातन्त्र के अग्रगन्ता तथा प्रगतिशील देश होने की घोषणा करते हैं तथा दूसरी ओर उनका शासन परम्पराओं पर ही अधिकतर आश्रित हो प्रगति करता है। मुख्यतः इन्हीं परम्पराओं की सहायता के लिये समय-समय पर अनेक कानूनों का निर्माण हुआ है। इस प्रकार के विचित्र अपरिवर्तनवादी प्रगतिशील अंग्रेजों को भी "तलाक" व्यवस्था के दुष्प्रभाव से बचने का, इस व्यवस्था को छोड़ने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं दिखलायी पड़ रहा। पश्चिम के उन राष्ट्रों और जातियों की तो चर्चा ही क्या है जिनमें तलाक की प्रथा प्रचलित है।

इंग्लैण्ड की सामाजिक वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिये सन् १९४९ के कुछ आंकड़ों पर दृष्टि डालिये।

सन् १९४९ में इंग्लैण्ड की जनसंख्या लगभग ५ करोड़ थी, जिसमें २४२६०००० पुरुष और २५७७३००० स्त्रियां थीं। इन संख्याओं के अनुसार १५१३००० स्त्रियां पुरुषों से अधिक हैं। इन स्त्रियों में बहुत बड़ी संख्या ऐसी स्त्रियों की है जिनकी आयु ३० से ४४ वर्ष के मध्य की है। इस विषम परिस्थिति से जहां अन्य घातक परिणाम उत्पन्न हो रहे हैं वहां इस परिस्थिति के उत्पन्न करने में तलाक भी एक मुख्य कारण सिद्ध हुआ है।

इंग्लैंड की सरकारी विवाह निर्देशक समिति (National marriage guidance council) के विशेषज्ञों की रिपोर्ट के अनुसार इंग्लैंड में इस वर्ष भी तलाकों की संख्या गत १९४५ तथा सन् ४६-४७ ई० के वर्षों से बहुत अधिक अनुमान की जाती है। सन् ४८ के प्रथम अर्ध

वर्ष अर्थात् ६ मास में २५ हजार स्त्री-पुरुषों ने तलाक के प्रार्थना-पत्र दिये हैं। यह संख्या सन् ४७ के सम्पूर्ण वर्ष के बराबर है।

न्यायालयों में ही गार्हस्थ्य जीवन के लगातार बढ़ते हुए इन विनाशकारी दृश्यों से समाज-व्यवस्थापकों और धार्मिक नेताओं के मनों में गम्भीर चिन्ता व्याप्त हो गई है। वे लोग यह अनुभव करते हैं कि समाज की आधार-शिला दाम्पत्य-जीवन खण्ड-खण्ड हो गया है।

गत १० वर्ष पूर्व की अपेक्षा तलाकों की संख्या १० गुना अधिक हो गयी है। ११ वर्ष पूर्व तलाकों के केवल ५७५० प्रार्थनापत्र दिये गये थे। सन् १९४३ ई० में १४८८०, सन् १९४४ में १८३९०, सन् १९४५ में २४८५७, सन् १९४६ में ४१७०४, सन् ४७ में २७०४१, जिनमें २२७४९ पुरुष और १८२९२ स्त्रियां थीं, सन् ४८ में ५३३२८ तलाकों के प्रार्थना पत्र थे। इन प्रार्थना-पत्रों का अधिकतर कारण व्यभिचार कहा जाता है।

ये कम्पित कर देने वाली संख्याएं भग्न गृहस्थ जीवन के १ लाख ५० हजार व्यक्तियों के हाहाकार-पूर्ण कहानी को प्रकट करने वाली हैं। तलाक की प्रत्येक घटना से कम से कम एक बालक भी सम्बद्ध है। यदि अविवाहितों, बालकों तथा अन्य प्रकार से विवाह में असमर्थ व्यक्तियों की संख्या को छोड़कर देखा जावे तो परिणाम यह निकलेगा कि अपवाद के रूप में नहीं, प्रत्युत नियम के रूप में तलाक का प्रत्येक गृहस्थी से किसी न किसी प्रकार सम्बन्ध है जिससे प्रत्येक व्यक्ति प्रभावित हो रहा है। अमेरिका में तलाकों की संख्या अन्य सभी देशों से अधिक रहती है। अपेक्षया नवीन देश होने से और अनेक यूरोपियन जातियों के मेल से अमेरिका की परम्परायें अभी दृढ़ नहीं हो पाई हैं तब भी तलाकों की संख्या की अधिकता की प्रवृत्ति से अमेरिका के समाजशास्त्री भी अत्यन्त आशंकित हो उठे हैं। परन्तु इंग्लैण्ड जैसे अत्यल्प भूखण्ड और अत्यन्त

घनी जनसंख्या वाले देश में तलाकों के मुकदमों की इस वृद्धि से आतंक छा गया है। न्यायालयों का बहुत सा समय तलाक के इन्हीं मुकदमों पर व्यतीत हो जाने से न्याय का अन्य कार्य भी अस्त-व्यस्त हो गया है और समाज में इस प्रथा के दोष भी तीव्रता से सन्मुख आ रहे हैं।

(आर्यमित्र २० जनवरी १९४९)

अतः सुतरां सिद्ध है कि तलाक से गृहस्थ में कभी सुखद वातावरण नहीं हो सकता।

सख्यभाव

इसलिये वैदिक परम्परा का मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। वेद ने जहां प्रेम को गृहस्थ का आधार कहा, वहाँ उसे पल्लवित और पुष्पित करने के लिये अनेक साधनों का भी वर्णन किया। वैदिक मर्यादा में पति और पत्नी आपस में सखा है। विवाह के प्रधान अंग सप्तपदों में अन्तिम पद की टेक "सखे! सप्तपदी भव" ही है। यहां कोई शास्य-शासक नहीं है। दोनों उचित और प्रशस्त व्यवहार की मर्यादा के आधार पर स्वतन्त्रतापूर्वक स्नेह-सूत्र में बंधे हैं।

हम मित्रों में देखते हैं कि कोई किसी पर अपनी सम्मति को थोपता नहीं है। अपनी बात को युक्ति से समझाकर मनवाते है और इतने पर भी कोई आग्रह पर डट जावे तो फिर उसके लिये त्याग करके और बलिदान करके उस बात के औचित्य को सिद्ध करते हैं। इस प्रसंग की भी उचित शिक्षा देने के लिए म० गांधीजी के जीवन की एक घटना बहुत उपयुक्त होगी। श्री गांधीजी अपनी आत्मकथा में लिखते हैं, "नश्तर लगाने के बाद यद्यपि कस्तूरबाई का रक्तस्राव कुछ समय के लिये बन्द हो गया था तथापि बाद को वह फिर जारी हो गया। अबकी वह किसी तरह मिटाये न मिटा। पानी के इलाज बेकार साबित हुए। मेरे इन उपचारों पर पत्नी को बहुत श्रद्धा न थी, पर साथ ही तिरस्कार भी न था। दूसरा इलाज कराने का भी

उसे आग्रह न था, इसलिए जब मेरे दूसरे उपचारों में सफलता न मिली तब मैंने उसको समझाया कि दाल और नमक छोड़ दो। मैंने उसे समझाने की हद कर दी, अपनी बात के समर्थन में कुछ साहित्य भी पढ़कर सुनाया, पर वह नहीं मानती थी। अन्त को उसने झुंझलाकर कहा—"दाल और नमक छोड़ने के लिये तो आप से भी कोई कहे तो आप भी न छोड़ेंगे।"

इस जवाब को सुनकर, एक ओर जहां मुझे दुःख हुआ वहां दूसरी ओर हर्ष भी हुआ, क्योंकि इससे मुझे अपने प्रेम का परिचय देने का अवसर मिला। उस हर्ष में मैंने तुरन्त कहा, "तुम्हारा ख्याल गलत है, मैं यदि बीमार होऊं और मुझे यदि वैद्य इन चीजों को छोड़ने के लिये कहे तो जरूर छोड़ दूं। पर ऐसा क्यों? लो तुम्हारे लिये मैं आज से ही दाल और नमक एक साल तक छोड़ देता हूं। तुम छोड़ो या न छोड़ो, मैंने तो छोड़ दिया।"

यह देखकर पत्नी को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह कह उठी— "माफ करो, आप का मिजाज जानते हुए भी यह बात मेरे मुंह से निकल गई। अब मैं दाल और नमक न खाऊंगी पर आप अपना वचन वापस ले लीजिये। यह तो मुझे भारी सजा दे दी।"

मैंने कहा—तुम दाल और नमक छोड़ दो तो बहुत ही अच्छा होगा। मुझे विश्वास है कि उससे तुम्हें लाभ ही होगा। परन्तु मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूं, वह टूट नहीं सकती। मुझे भी उससे लाभ ही होगा। हर किसी निमित्त से यदि मनुष्य संयम का पालन करता है तो इससे उसे लाभ ही होता है। इसलिए तुम इस बात पर जोर न दो क्योंकि इससे मुझे भी अपनी आजमाइश कर लेने का मौका मिलेगा और तुमने जो इन्हें छोड़ने का निश्चय किया है, उस पर दृढ़ रहने में भी तुम्हें मदद मिलेगी। इतना कहने के बाद तो मुझे मनाने की आवश्यकता रह नहीं गई थी। "आप तो बड़े हठी हैं, किसी का कहना मानना आपने सीखा ही नहीं" यह कहकर आंसू बहाती

हुई चुप हो रही। इसको मैं पाठकों के सामने सत्याग्रह के तौर पर पेश करना चाहता हूं और मैं कहना चाहता हूं कि मैं इसे अपने जीवन की मीठी स्मृतियों में गिनता हूं।"

इस घटना से हम लोग पर्याप्त शिक्षा ले सकते हैं। प्रेमसूत्र को सुरक्षित रखते हुए अपनी बात को मनवाने का इससे उत्तम और कोई प्रकार नहीं हो सकता। जहां बलपूर्वक एक दूसरा एक दूसरे पर अपनी सम्मति थोपता है, वहां जीवन शुष्क और नीरस बन जाता है।

वैसे आप विचार करके देखेंगे तो पत्नी का स्थान इतना महत्व-पूर्ण है कि उसको किसी एक पद के साथ जोड़कर सीमित नहीं किया जा सकता। इस बात का सुन्दर दिग्दर्शन कविवर कालिदास ने महाराजा अज के मुख से करवाया है।

महाराजा अज अपनी प्रियतमा महारानी इन्दुमती के साथ अपने राजकीय उद्यान में घूम रहे थे। वहीं एक दुर्घटना हुई और महारानी इस लोक से चल बसी। महाराजा अज को अपनी पत्नी से अत्यन्त प्रेम था। वे रात-दिन उसी की वियोगाग्नि में झुलसते रहते थे। महाराजा की यह दशा देखकर कुल पुरोहित वसिष्ठजी उन्हें समझाने के लिये आये और उनसे कहा, "महाराज जो होना था, हो गया। प्रभु के विधान को कोई टाल नहीं सकता। इसलिए इन्दुमती का विचार छोड़कर अपने काम-काज की देखभाल करो। क्या हुआ एक इन्दुमती नहीं रही और तो तुम्हारा सारे का सारा परिवार विद्यमान है। इनके साथ प्रसन्नता से जीवन व्यतीत करो।"

पुरोहित जी का उपदेश सुनकर महाराज अज ने कहा—गुरुजी! आप कहते हैं अकेली पत्नी ही तो मरी—और तो सारा परिवार है। पर मैं देखता हूं गुरु जी, मेरे लिए अकेली इन्दुमती नहीं सभी मर गये—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रिया शिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां बद किन्न मे हृतम्॥

मेरे घर की व्यवस्था को संभालने का दायित्व इन्दुमती पर था। इसलिए मेरी गृहिणी मर गयी, सब प्रकार के कार्यों के सचालन में सबसे पहले मैं अपनी पत्नी की ही सम्मति लिया करता था। इसलिये वह मेरा सचिव का कार्य भी करती थी---अब उसके न रहने से मेरा मन्त्री भी मर गया। मनोरंजन, विचार-विनिमय आदि के समय इन्दुमती मेरा योग्य मित्र थी। इसलिए उसके न रहने से मेरा मित्र भी नहीं रहा। मैंने अनेक प्रकार की ललित कलाओं का प्रशिक्षण प्राप्त किया है---इन्दुमती उन कलाओं को मुझ से सीखा करती थी। इसलिये वह मेरी शिष्या थी। अतः गुरु जी! मेरी दृष्टि में अकेली इन्दुमती नहीं मरी अपितु मेरे तो सभी सम्बन्धी मर गये। इस प्रकार स्पष्ट है कि पत्नी को किसी एक पद के साथ नहीं बांधा जा सकता।

किन्तु इन सभी स्थानों में से पत्नी के लिये जितना उपयुक्त पद एक सखा का है उतना दूसरा नहीं, क्योंकि सख्यभाव में समानता की भावना मुख्य रूप से पुष्ट है।

इसी घनिष्टता की पराकाष्ठा को दिखाने के लिये उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में बड़ी सुन्दर कल्पना की गयी है। बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।३। में लिखा है...

स हैतावानास यथा स्त्री पुमांसौ संपरिष्वक्तौ, स इममेवात्मानं द्वेधा पातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्। तस्मादिदमर्धं बृगल-मिव। अर्थात् स्त्री-पुरुष दोनों को मिलाकर गार्हस्थ्य-शरीर बना। जब उसके दो भाग किये गये तो वे पति और पत्नी हुए। इसलिए पति-पत्नी दोनों एक दाने की दो दालों अथवा सीप के दो भागों के समान हुए अर्थात् दोनों बराबर और सखा हैं।

ठीक इसी प्रकार की बात शतपथ में कही गई है..

अर्धो वा एष आत्मनो यत् पत्नी स हैतावानास यथा स्त्री

पुमांसौ संपरिष्वक्तौ, ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्। तस्मादर्धं वृगलमिव स्वः इति हास्माह याज्ञवल्क्यः।

(शत०ब्रा० ५।२।१।१०)

केवल शब्द मात्र का अन्तर है अर्थ वही है, जो बृहदारण्यक के अनुच्छेद का है।

यही बात व्यास ऋषि ने महाभारत में इस प्रकार कही है :--

अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः॥

स्त्री मनुष्य का आधा भाग है, पत्नी ही सबसे श्रेष्ठ मित्र है, भार्या ही धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति में सबसे अधिक सहायक है। संसार-सागर को तरने के लिये पत्नी ही सबसे बड़ा सहायक है।

मित्रता के पवित्र सम्बन्ध में उत्तरोत्तर दृढ़ता एक दूसरे के गुणों पर श्रद्धा की भावना रखने से ही आती है। पति के मन में पत्नी के लिए अतिशय आदर के भाव होने चाहिएं और इसी प्रकार पत्नी को अपने पति को साक्षात् देव समझना चाहिए।

अथर्व वेद ११।१।१७ में लिखा है कि "शुद्धाः पूता योषिता यज्ञिया इमाः"॥ अर्थात् ये शुद्ध, पवित्र देवियां यज्ञरूप हैं। ऋग्वेद २।३।११ में लिखा है :

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती॥

घर में देवी ही सत्य और मधुर भाषण के लिए बुद्धिपूर्वक काम करने के लिए और पवित्र शुभ कर्म करने के लिये प्रेरणा करती है।

यजुर्वेद अ० ८।४२ में पत्नी में निम्न गुणों का वर्णन किया गया है :—

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति।
एता ते अघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्॥

(१) इडा—देवी में प्रथम गुण वाणी के मधुर प्रयोग का होता है।

(२) रन्ता—घर में सब प्रकार की रमणीयता की वृद्धि और रक्षा देवी ही करती है।

(३) हव्या—जिस प्रकार उपकारक हव्य पदार्थ पूजा के योग्य होते हैं, उसी प्रकार घर में देवी पूजा और सत्कार-योग्य है।

(४) काम्या—समस्त सम्बन्धियों को सब से अधिक चाहने योग्य देवी ही होती है।

(५) चन्द्रा—घर में प्रसन्नता और चहल-पहल का वातावरण बनाने में देवी की ही प्रधानता है।

(६) ज्योति—देवी ही उत्तम व्यवस्था के कारण घर को प्रकाशित करती है और अपने अनुपम गुणों से अविद्या के अन्धकार को दूर करती है।

(७) अदिति—दीनता और हीनता की भावना देवी के चित्त में कभी नहीं आनी चाहिये।

(८) सरस्वति—लोक-परलोक साधक उत्तम ज्ञान का सम्पादन करने वाली देवी हो।

(९) मही—बहुत उदार और विशाल भावों को सुरक्षित रखने वाली गृहिणी हो।

(१०) विश्रुति बहुश्रुता—समस्त वेद और शास्त्रों को ठीक प्रकार से जानने वाली देवी होनी चाहिए।

(११) अघ्न्या—देवी की उचित इच्छाओं का कभी हनन नहीं होना चाहिए और शारीरिक दण्ड भी इन्हें नहीं देना चाहिए। शुक्रनीति अध्याय ४ में पत्नी के गुणों का निम्न वर्णन बहुत ही सुन्दर रूप में किया गया है—

मनो वाक्कर्मभिः शुद्धा पतिदेशानुवर्तिनी ॥
छायेवानुगता स्वच्छा सखीव हितकर्मसु ॥

मन, वचन और कर्म से शुद्ध, पति के अनुकूल आचरण करने वाली, दुःख और सुख में छाया के समान पति के साथ रहने वाली और हितकारक कर्मों में सच्चे मित्र के समान नियुक्त करने वाली देवी होती है।

दासीवा दिष्टकार्येषु भार्या भर्तुः सदा भवेत्।
संगीतैर्मधुरालापैः स्वायत्तस्तु पतिर्यथा।
भवेत्तथाचरेयुस्ता मायाभिः कामकेलिभिः॥

पत्नी को उचित है कि पति के आदिष्ट कार्यों को एक सेविका के समान करे, संगीत, मीठी बात-चीत और मनोरंजन के प्रकारों से जिस प्रकार अपना पति सन्तुष्ट और प्रसन्न रहे, उन्हें अपने व्यवहार में लावे।

मितं ददति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य नु दातारं भर्तारं का न पूजयेत्॥

पिता, पुत्र और भाइयों का दिया सुख परिमित होता है। किन्तु पति द्वारा दिया हुआ सुख महान् होता है, फिर ऐसी कौन बुद्धिमती पत्नी होगी जो इस प्रकार के पति की पूजा न करे।

महाभारत के उद्‌गारों पर भी दृष्टि डालिये—

अर्धं भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः॥

पत्नी पुरुष का आधा भाग है, पत्नी ही सबसे उत्तम मित्र है, धर्म, अर्थ और काम की साधिका पत्नी ही है और संसार के सन्तरण में भी पत्नी का बहुत बड़ा सहयोग है।

भार्यावन्तः क्रियावन्तः सभार्या गृहमेधिनः।
भार्यावन्तः प्रमोदन्ते भार्यावन्तः श्रियान्विताः॥

सपत्नीक ही क्रियाशील होते हैं। सपत्नीक ही घर को चलाने में समर्थ होते हैं, सपत्नीक ही प्रसन्न रहते हैं और सपत्नीक ही शोभा और लक्ष्मी से युक्त होते हैं।

सखायः प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियम्वदाः।
पितरो धर्मकार्येषु भवन्त्यार्तस्य मातरः॥

मधुरभाषिणी पत्नी एकान्त में सच्चा मित्र है, धर्म-कार्य को प्रेरणा के लिये पिता के समान है और दुःखी को सान्त्वना देते समय पत्नी माता के समान होती है।

कान्तारेष्वपि विश्रामो जनस्याध्वनिकस्य वै।
यः सदारः स विश्वास्यस्तस्माद्दारा परा गतिः॥

पत्नी यदि साथ हो तो मुसाफिर को जंगल में भी विश्राम प्राप्त होता है। जो सपत्नीक है वही विश्वास के योग्य है। इसलिये पत्नी पुरुष के लिये बहुत बड़ा आश्रय है। मनुजी महाराज ने स्त्री के गुण-गण का इस प्रकार वर्णन किया है—

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन॥

भाग्यवती देवियों को प्रभु ने सृष्टि के क्रम को बनाये रखने के लिये उत्पन्न किया है। इनका बहुत आदर होना चाहिये। गुणवती देवियां ही वास्तव में घर की शोभा हैं। गृह के महत्त्व की दृष्टि से स्त्रियां ही लक्ष्मियां हैं।

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम्॥

सन्तान उत्पन्न करना, उत्पन्न करके पालन करना, अन्य भी घरेलू अनेक कार्यों की व्यवस्था के कारण प्रत्यक्ष ही स्त्री का महत्त्व है।

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह॥

सन्तानोत्पादन, धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान, उत्तम सेवा और रति, इसके अतिरिक्त जितना भी अपना और बड़े बूढ़ों का सुख है वह सब स्त्री के ही आधीन होता है।

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ।।

पत्नी यदि पति के व्यवहार से प्रसन्न रहती है, तो वह सारा परिवार ही प्रसन्न रहता है और जहां पुरुष के व्यवहार से स्त्री असन्तुष्ट है, वहां सारा परिवार ही शोकातुर और अप्रसन्न-सा रहता है।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैता: पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या: भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभि: ।।

पिता अपनी पुत्री का, भाई अपनी बहिन का, पति अपनी पत्नी का और देवर अपनी भावज का सदा सम्मान करे। मधुर वचन, भोजन और वस्त्रों से उन्हें सदा सन्तुष्ट रखें। जो अपने कुल को फूलता-फलता देखना चाहें, वे स्त्रियों को क्लेश कभी न दें।

प्राणिशास्त्र की दृष्टि से भी स्त्री की उत्तमता सिद्ध है। इसलिये भी उसका आदर ही होना चाहिए। प्राणिशास्त्र के अनुसार जीव के दो भेद हैं। एक अनुलोम परिणामी (Creating body) जिसमें निर्माण क्रिया की तत्पर शक्ति है। दूसरे प्रतिलोम परिणामी (Destroying body) जिसमें विध्वंसकारी वल होता है। विध्वंस सदा रचना के वाद होता है। इसलिये स्त्री की उत्तमता सिद्ध है।

इन सब दृष्टियों को विचार कर तो पति को सदा पत्नी का सम्मान करना चाहिये। इसी प्रकार पत्नी को भी सदैव पति का अत्यन्त आदर करना चाहिये। वनगमन के समय माता सीता ने पति के लिए जो विचार प्रकट किये वे सदा ही कुलीन देवियों को स्मरण रखने चाहिए। माता सीता ने कहा—

नातन्त्री विद्यते वीणा नाचक्रो विद्यते रथ: ।
नापति: सुखमेधेत या स्यादपि शतात्मजा ।।

जिस प्रकार विना तार की वीणा को, विना पहिये के रथ को

कोई देखता भी नहीं है, दोनों का अस्तित्व नहीं के बराबर है। यही दशा पतिविहीन स्त्री की होती है, चाहे वह कितने ही पुत्रों की मां क्यों न हो !

मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥

पिता, भ्राता और पुत्र का उपकार एक सीमा में होता है। किन्तु पति का दान और उपकार असीम है। इसलिए कौन समझदार स्त्री होगी जो पति का आदर न करे। पति के सम्मान का एक और सुन्दर उदाहरण रामायण में बाली के मरने पर तारा का है। बाली के मृत शरीर को गोद में रखकर तारा विलाप कर रही थी। उसे उस समय सान्त्वना देने के लिये हनुमान आकर कहने लगा, माता तेरे पास अंगद जैसा गुणी और वीर पुत्र विद्यमान है। इसलिये अब पति-वियोग के क्लेश को, अपने पुत्र के गुणों पर, विचार को केन्द्रित करके सहन करो तथा धैर्य धारण करो। हनुमान् की इस बात को सुनकर तारा ने उत्तर दिया—

अंगद प्रतिरूपाणाँ पुत्राणामेकतः शतम्।
हतस्याप्यस्य वीरस्य गात्रसंश्लेषणं वरम्।

प्यारे हनुमान्! मेरे तो अंगद अकेला बेटा है, यदि अंगद जैसे सौ पुत्र भी हों तो भी पत्नी को जो पति का सहारा होता है और उसके आधार पर जो उसे आनन्द की अनुभूति होती है वह सैकड़ों पुत्रों से भी प्राप्त नहीं हो सकती।

इसके अतिरिक्त सख्यभाव में वृद्धि और स्नेहग्रन्थि को सुदृढ़ करने के लिये पति और पत्नी का, पत्नीव्रती और पतिव्रता होना अत्यन्तावश्यक है। गृहस्थ को उजाड़ने वाला इस दुर्गुण से बढ़कर कोई शत्रु नहीं है कि स्त्री पर-पुरुष से और पुरुष पर-पत्नी से प्रेम करे। अतएव अथर्ववेद ७।३७।१ में और ७।३८।१ में बहुत ही काव्यमय ढंग से इस विषय में उपदेश दिया है—

अभित्वामनुजातेन दधामि वाससा।
यथासो मम केवलो नान्यासाँ कीर्तयाश्चन ॥

एक पत्नी अपने पति को उसके कर्तव्य का स्मरण कराती हुई कहती है। मेरे विचार के साथ बनाये वस्त्र से तुझे मैं प्रेम के सूत्र से बांधती हूं, जिससे तू एक मात्र मेरा होकर रह और दूसरी स्त्रियों का नाम तक न ले।

अहं वदामि नेत त्वं सभायामहं त्वं वद।
ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥

मैं कहती हूं कि यह आश्वासन मुझे "कि मैं तेरा ही हूं" एकान्त में न दे अपितु भरी सभा में सबके सामने यह घोषणापूर्वक कह। जिससे तू मेरा ही होकर रहे और अन्य स्त्रियों का नाम तक न ले।

इन मन्त्रों में एक पत्नीव्रत का उपदेश स्पष्ट है। मध्यकाल में भारत में यह वैदिक मर्यादा टूट गयी थी और इसके विना गृहस्थ सतत कलह और षड्यन्त्रों का घर बन गया था। पर जिन महापुरुषों को हम अपने इतिहासाकाश के ज्योतिर्मय नक्षत्र मानते हैं, उनमें यह अद्भुत गुण कूट-कूट कर भरा था। रावण के मरने पर जब मन्दोदरी राम के सामने आयी तो उससे बात करते हुए मर्यादा पुरुषोत्तम राम की दृष्टि नीचे से ऊपर न उठी। इस शालीनता को देखकर मन्दोदरी ने कहा--

धन्या राम त्वया माता धन्यो राम त्वया पिता।
धन्यो राम त्वया वंशः परदारान्न पश्यसि ॥

हे राम, तुम्हारी माता धन्य है, तुम्हारे पिता धन्य हैं। हे राम, जिस वंश को तुमने अपने जन्म से भूषित किया है वह वंश धन्य है क्योंकि परस्त्रियों को तुम आंख उठाकर भी नहीं देखते।

इसी प्रकार एक उपदेशप्रद सुन्दर दृश्य कविवर कालिदास ने रघुवंश में अंकित किया है। महाराज कुश अपने महल के विश्राम-

कक्ष में अकेले विश्राम कर रहे हैं। इतने में बालों को खोले विरहिणी वेश में उस सूने कमरे में एक स्त्री ने प्रवेश किया। उस देवी को देखकर महाराज कुश ने कहा—

का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किंवा मदभ्यागमकारणन्ते।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्तिः॥

हे देवी, तू कौन है ? किसकी पत्नी है और मेरे पास तू किस अभिप्राय से आयी है ? किन्तु इन सब बातों का उत्तर देने से पहले तू यह समझ ले कि जितेन्द्रिय रघुवंशी परस्त्रियों के सम्पर्क से सदा विमुख रहते हैं। यहां महाराज कुश ने प्रथम ही इस प्रकार का प्रश्न उपस्थित कर दिया, जिससे किसी अपवित्र विचार के लिये मन में स्थान ही न बनने पावे।

इसी प्रकार स्त्री में पातिव्रत्य धर्म की भावना भरपूर होनी चाहिये। वैसे अपेक्षाकृत देवियां फिर भी पवित्र रही हैं और वे तो गये गुजरे जमाने तक में जबकि एक पुरुष के अनेक स्त्रियां होती थीं पति के मरने पर अपने आपको जीवित ही पति के शव के साथ जला देती थीं। यद्यपि यह कोई पुण्य-कार्य नहीं था। किन्तु जहां तक पति में निष्ठा का प्रश्न है, इससे बढ़कर और कोई त्याग नहीं हो सकता। हिन्दू स्त्री के किसी ऐसे ही दृश्य को देखकर किसी फारसी के शायर ने दांतों तले उंगली दबाकर कहा था—

दरवफा हमचूं जने हिन्दू कसे परवानानेस्त।
सोख्तन दर शमअ मुर्दा कारे हर परवाना नेस्त॥

प्रेम के क्षेत्र में पतंगा हिन्दू स्त्री के त्याग की कोई स्पर्धा नहीं कर सकता, क्योंकि पतंगा तो जलते हुए दीपक पर ही अपने आपको जलाता है। पर हिन्दू स्त्री तो वह पतंगा है जो बुझे हुए दीपक पर अर्थात् मरे हुए पति पर अपने आपको बलिदान कर देती है।

वैसे पति और पत्नी के लिए परस्पर इससे बढ़कर और कोई

सन्तोष का विषय नहीं होता, जितना यह कि उनकी प्रेम की बस्ती में किसी और के प्रवेश की गुंजाइश नहीं है। एक संस्कृत कवि के शब्दों में अपने पति के पवित्र आचरण की कीर्ति को सुनकर पुलकित एक देवी के हृदयोद्गारों का हमारे पाठक भी आनन्द लें—

अस्माकं सखि वाससी न रुचिरे ग्रैवेयकन्नोज्ज्वलं
नो वक्रागतिरुद्धतं न हसितं नैवास्ति कश्चिन्मदः।
किन्त्वन्येऽपि जना वदन्ति सुभगोप्यस्याः प्रियो नान्यतो
दृष्टिं निक्षिपतीति विश्वमियता मन्यामहे दुःस्थितम्॥

एक देवी अपनी घरेलू परिस्थिति का अपनी एक अभिन्नहृदया सहेली के साथ खुले रूप में वर्णन करती हुई कहती है :—

हे सखि ! न तो मेरे पास सुन्दर और आकर्षक वस्त्र हैं। न चमचमाते आभूषण हैं। न नाजनखरे से चलना फिरना और हंसना ही मुझे आता है। अन्य भी मुझ में कोई आकर्षण की वस्तु नहीं है। किन्तु दूसरे सब लोगों को जब मैं यह चर्चा करते हुए सुनती हूं कि सब प्रकार से सुन्दर और योग्य मेरा पति किसी सुन्दरी की ओर आंख तक उठाकर नहीं देखता तो मैं बस इतने से ही अपने आपको धन्य समझती हूं। कितने संतुष्ट हृदय के उद्‌गार हैं ये। अतः गृहस्थ को सुखी बनाने के लिये पति और पत्नी को पत्नीव्रत और पतिव्रत का अवश्यमेव पालन करना चाहिए।

शास्त्रकारों ने गृहस्थ का मुख्य आधार पत्नी को माना है। जैसा कि मनु महाराज ने कहा है, "दाराधीनस्तथा स्वर्गः" यह स्वर्ग पत्नी के आधीन है। इसलिये उन्होंने देवियों के कुछ गुणों को विशेष रूप से धारण करने की और कुछ अवगुणों को विशेष रूप से छोड़ने की सम्मति दी है। मनु जी ने कहा है कि प्रत्येक गृहिणी में निम्न चार गुण अवश्य होने चाहिएं—

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया। मनु० ५।१५०

देवी में पहली विशेषता तो सदा प्रसन्न रहने की होनी चाहिये। जो व्यक्ति सदा प्रसन्नचित्त रहता है उसके सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति भी सदा प्रसन्न रहते हैं और वहां का वातावरण सदैव आनन्द और उल्लासमय रहता है। हमने देखा है कि हंसोड़ स्वभाव का व्यक्ति दूसरे के कठोर वचनों पर भी हंसता ही रहता है और कुछ काल-पश्चात् परिणाम यह होता है कि उसकी हंसी को देखकर दूसरे का क्रोध भी उड़ जाता है और उस व्यक्ति को भी हंसी आ जाती है और होने वाला कलह स्वतः शान्त हो जाता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति सदा गम्भीर बना रहता है, प्रत्येक समय हंसने की तो बात ही क्या है? जिसको होली-दीवाली भी हंसी नहीं आती, कभी इसको डांट-डपट की, कभी उससे मुठभेड़ हुई, बस ऐसे घर में सदा क्लेश बना रहता है। अपवाद को छोड़कर संसार में तो क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य ही होती है। तो स्वभावतः ही प्रसन्नचित्तता की प्रतिक्रिया प्रसन्नचित्तता में होगी और उदासीनता और उपेक्षा, उदासीनता और उपेक्षा को ही जन्म देगी। अतः घर को सुखमय बनाने के लिए गृहस्वामिनी को सदा प्रसन्न रहना चाहिए।

परिवार और समाज में प्रसन्नतापूर्वक व्यवहार का क्या महत्व है? यह बात प्रसिद्ध विद्वान् टालस्टाय की निम्न कहानी से समझिये—

एक कुत्ता कहीं से घूमता-फिरता एक शीशे के भवन में प्रविष्ट हुआ। ज्यों ही प्रवेश के पश्चात् उसने आगे-पीछे दायें-बायें देखा तो उसे उस भवन में चारों ओर कुत्ते ही कुत्ते दिखलाई दिये। कुत्ते का स्वभाव है कि वह सब की चाटुकारिता और चापलूसी कर सकता है किन्तु अपने भाई-बन्धुओं को देखकर जल भुन जाता है। यह भी इन कुत्तों को देखकर मन ही मन जल गया और सोचने लगा अरे ये अभागे यहां भी आ मरे, यहां भी चैन का सांस न लेने दिया। बस, मन में इन भावों के आने पर जब उसने इन कुत्तों को फिर

देखा तो अनुभव किया कि ये मुझें घृणा और क्रोध भरी दृष्टि से देख रहे हैं। यद्यपि वहां कुत्ता एक न था। जो दिखलायी दे रहे थे, वे शीशे में इसी के प्रतिबिम्ब थे। क्रोध और भड़का और उन दुष्टों को दण्ड देने का निर्णय कर डाला। इसने उन कुत्तों पर रौब डालने के लिये अपनी पूंछ अकड़ाई और सोचा, बस इससे ही ये झेंप जावेंगे और भवन छोड़कर भाग जावेंगे। किन्तु ऐसा कुछ न हुआ। इसके पूंछ अकड़ाते ही उन कुत्तों की भी पूंछें अकड़ गयीं। यह देख कर इसे और भी क्रोध आया और इसने अपनी गर्दन अकड़ाई। इसके गर्दन अकड़ाते ही उन सबकी गर्दन भी अकड़ गयी। उनकी यह धृष्टता देखकर वह कुत्ता सोचने लगा—ये लोग तो बहुत दुष्ट हैं। मैं इस भवन में आया तो ये भी मेरे साथ ही आ धमके, और भी जैसे-जैसे मैं करता हूं ठीक वैसे ही ये भी करते हैं। मैं अकेला हूं ये बीसियों हैं। कहीं ऐसा न हो कि ये सब मिलकर मेरे ऊपर आक्रमण कर दें। मैं भागू तो तब भी छुटकारा नहीं है तब ये और वेग से मुझे पकड़ने के लिये दौड़ेंगे। अब तो पूरी शक्ति से इनको दबाने का यत्न ही करना चाहिये। यह विचार कर यह एक बार जोर से गुर्रा कर उन पर आक्रमण करने के लिये उछला। सोचा यह था कि मेरे उछलते ही सब भयभीत होकर भाग खड़े होंगे। किन्तु हुआ इसके सर्वथा विपरीत। इसके उछलते ही वे सभी उछलते दीख पड़े और सोचा लो, ये सब मेरे ऊपर टूट पड़े। अब मैं नहीं बच सकता। भयभीत होकर और मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

अब इस कहानी का दूसरा रूप भी देखिये। उसी शीशे के भवन में कुछ समय के पश्चात् एक और कुत्ता प्रविष्ट हुआ। उसे भी पहले कुत्ते के समान अनेक अपने भाई-बन्धु दिखलाई दिये। किन्तु पहले के समान इसके मन में घृणा और क्रोध उत्पन्न नहीं हुआ। सोचने लगा जैसा मैं हूं वैसे ही ये सब हैं। जैसे मुझे इस भवन में प्रवेश का अधिकार हैं, उसी प्रकार इन्हें भी है। और अच्छा ही हुआ। इतने बड़े भवन में अकेले मन भी तो न लगता। इन सब

बन्धुओं के साथ आनन्दपूर्वक अच्छा समय व्यतीत हो जायेगा। इन स्नेह मिश्रित न्यायसंगत विचारों के चित्त में आते ही जब उसने दुबारा उन कुत्तों की ओर दृष्टि उठाकर देखा तो अनुभव किया कि ये सब तो मुझे बहुत ही प्रेमभरी दृष्टि से देखते हैं। तो क्यों न इनके साथ मिल कर आनन्दपूर्वक इस भवन में भ्रमण किया जावे ! यह भावावेश में आकर उनसे मिलने के लिए अपनी पूंछ हिलाने लगा। इसने देखा कि वे सब भी उतना ही प्रेम प्रकट कर रहे हैं और इससे मिलने को आतुर हैं। इस कहानी से यह समझ में आया कि प्रायः मनुष्य अपनी दुर्बलताओं के कारण ही संसार में अपने विरोधी उत्पन्न कर लेता है। जिन दोषों का दूसरों पर आरोपण कर रहा है वे सब बुराइयां अपने ही में विद्यमान थीं। दूसरे स्थान पर तो उस की प्रतिक्रिया है। अतः यह संसार क्या है ? एक शीशे का घर है। शीशे में वही दिखलाई देगा जो उसके सामने होगा। हम अपना मुंह तो बिगाड़ लें और शीशे में एक मुस्कराता हुआ चेहरा देखना चाहें यह कैसे सम्भव होगा।

इसी बात का एक अनूठे ढंग से वर्णन किया है प्रसिद्ध विद्वान् आरिसन स्वीट मार्डिन (Orision Sweet Marden) ने चीयरफुलनैस (Cheerfulness) नाम के अपने ग्रन्थ में।

"What is this world, but as you take it. Thackeray calls this world a looking glass, that gives back the reflection of one's own face Frown at it, and it will look sourly upon you; laugh at it, and it is, a jolly companion." यह संसार क्या है ? वह वही है जैसा तुम इसको जानते हो। थैकरे इस संसार को एक दर्पण मानता है जो अपने भीतर से देखने वाले के चेहरे को ही प्रतिबिम्बित कर देता है, तुम उसकी ओर क्रूर दृष्टि से देखो, वह तुमको डरावनी दृष्टि से देखने लगेगा। तुम उसको हंसते हुए देखो तुमको प्रतीत होगा कि वह तुमको हंसाने वाला संगी मित्र है।

इसलिए जो बुद्धिमती गृहस्वामिनी सदा प्रसन्नचित्त रहेगी, उस घर में तो हर्षोल्लास का वातावरण बना रहेगा ही। इसके विपरीत जहां प्रत्येक समय हंसने की तो बात ही क्या है ? प्रसन्नता की रेखा ही कभी-कभी उभरती हो, वहां आप स्वर्ग की कल्पना भी कैसे कर सकते हैं ? इसलिए प्रसन्न-चित्तता के दैवी गुण को मनीषी मनु ने प्रथम स्थान दिया।

दूसरा गुण "गृहकार्येषु दक्षया" घर की व्यवस्था में देवी को निपुण होना चाहिए। थोड़े व्यय में सब आवश्यकताओं की पूर्ति होते हुए किस प्रकार परिवार का निर्वाह हो सकता है ? घर वालों की वात, पित्त और कफ में से कौन-सी प्रकृति है ? किस प्रकार का खान-पान उनके अनुकूल आ सकता है ? कौन-कौन सी शाक भाजियां किस ऋतु में ग्राह्य अथवा त्याज्य हैं। दिन में किस प्रकार का भोजन होना चाहिए और रात्रि को कैसा ? यह समस्त विद्या देवी को आनी चाहिए। यह कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं है कि जितना व्यय पाकशाला पर हो उतना ही महीने के अन्त में डाक्टर का बिल चुकाया जाये।

आज के गृहस्थ के दुःख का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि हमारी बहिनें इस नितान्त आवश्यक जानकारी से शून्य हैं। ९५ प्रतिशत गृहों में भोजन जीभ के चस्के के लिए बनता है स्वास्थ्य की दृष्टि से नहीं। परिणाम सामने है कि शारीरिक सम्पत्ति का उत्तरोत्तर ह्रास हो रहा है। अनेक रोग बच्चों को माता-पिता से दायभाग (विरासत) में प्राप्त हो रहे हैं और रही सही कसर अबोध माता उलटा खिला-पिला कर पूरी कर रही हैं। अत: घर को सुखी बनाने के लिये घरेलू विज्ञान की पूरी जानकारी होनी चाहिए।

इसके पश्चात् तीसरा गुण "सुसंस्कृतोपस्करया" गृह की प्रत्येक वस्तु शुद्ध पवित्र रखनी चाहिए और प्रत्येक वस्तु का स्थान भी नियत होना चाहिए। उत्तम व्यवस्थापिका वह देवी है, जिससे

अंधेरे में सुई की मांग की जावे तो एक क्षण का भी विलम्ब किये बिना सुई लाकर दे दे। बच्चों का स्वभाव भी इसी प्रकार का बना देना चाहिए कि जिस स्थान से जिस वस्तु को उठायें, कार्य के पश्चात् उसे चाहे जहां न फेंक दें अपितु उस वस्तु के नियत स्थान पर ही उसे रखें। घर में वस्तुओं का स्थान नियत न होने से अथवा नियत स्थान पर रखने का अभ्यास न होने पर बड़ी असुविधा होती है, जब भी जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, पहले तो आधा घंटा उसकी खोज होती है। खोजने पर भी यदि हाथ न लगे तो फिर दूसरी खरीद कर लाइये कई बार यह अव्यवस्था घर में झगड़े का ही सूत्र-पात कर देती है। बहुत शीघ्रता के कार्य में मनुष्य अपने मस्तिष्क के सन्तुलन को ही खो बैठता है और बौखला कर कठोर शब्दों का प्रयोग करने से कलह उत्पन्न हो जाता है। जहां पति महाशय ने झुंझला कर कहा कि, तुम्हारी किसी चीज का कोई ठिकाना भी है? कहां देखें एक बार बता दो न? बस इतना कहते ही देवी जी अपने दोष को छिपाने के लिए, तीर कमान सम्भालकर दृढ़ता से मोर्चे पर जम गयीं और प्रत्याक्रमण प्रारम्भ हो गया।

अब आप ही देख लीजिए एक काम तो उस वस्तु के न मिलने से बिगड़ा ही, दूसरी हानि यह और हो गयी कि घर में झगड़ा हो गया। अतः निश्चिन्तता, समय की सदुपयोगिता और मानसिक शान्ति की दृष्टि से इस तीसरे गुण का भी बहुत बड़ा महत्व है।

अब इसके अनन्तर चौथा गुण बताया "व्यये चामुक्तहस्तया" व्यय के समय देवी की मुट्ठी का बहुत न खुलना। अर्थात् सोच समझ कर व्यय करना और अपव्यय कभी न करना। गृहस्थ में पति एक बार को अपव्ययी हो तो भी यथा-तथा काम चल जाता है। किन्तु जिस घर में स्त्री फिजूल खर्च करने वाली हो—उसका पूरा कभी नहीं पड़ता। समझदार देवी को अपने घर के व्यय का अपनी आय को देखकर बजट बनाना चाहिए। उसी बजट के अनुसार

भोजन वस्त्रादि पर व्यय होना चाहिए गृह की आय में से जिस प्रकार घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बजट की भिन्न-भिन्न निधियां नियत की जावें, उसी प्रकार एक निधि शुभ कार्य निमित्त दान की प्रथम से ही सुरक्षित कर देनी चाहिए। न्यून से न्यून आय का शतांश तो दान में जाना ही चाहिए और श्रद्धापूर्वक सत्पात्र में उसका दान होना चाहिए। तथा घरेलू बजट में इसका स्थान मुख्य होना चाहिए, गौण नहीं। वेद कहता है १०० हाथों वाले होकर कमाते हो तो १००० हाथों वाले होकर दान दो अर्थात् कमाने की अपेक्षा दान करते समय अधिक उदार होना चाहिए। शास्त्र की दृष्टि से दान क्या है? यह वह सुरक्षित निधि है जो भविष्य के लिये अपने सम्भालकर रख दी है।

इस समय हमारे घर में यह गुण भी बिरली ही देवियों में रह गया है। आजकल अपव्यय घर में देवियों से ही प्रारम्भ होता है। जहां काम काज से निवृत्त होकर चार बहनें इकट्ठी होकर बैठती है, यदि युवती हैं तो वस्त्रों और आभूषणों की चर्चा होती है। और अपनी आय को देखे बिना एक दूसरी एक दूसरी को देखकर अनेक प्रकार की साड़ियां खरीदने और आभूषण बनवाने में ही जुटी रहती हैं। इस अव्यवस्था के कारण साधारण आय के गृहस्थियों की तो सारी अर्थ व्यवस्था ही अस्त-व्यस्त हो गयी है। बाबूजी का वेतन है पांच सौ, सात सौ। देवीजी मांग करती है तीन सौ, चार सौ की साड़ी की। बाबूजी का सूट बनकर तैयार होता है अढ़ाई सौ तीन सौ रुपये में, अब घर के बजट की पूर्ति बेईमानी की कमाई से होती है — अथवा पेट काट करके। एक महीना घी नहीं सही, कपड़ा तो सोसायटी में बैठने को बढ़िया होना ही चाहिए। इस असन्तुलित व्यय के कारण भारी भरकम वेतन लेने वालों की अवस्था भी यह हो गई है कि महीना समाप्त होते-होते वे कुछ न कुछ कर्जदार बन जाते हैं। यह बात करते हुए तो हमने अनेकों को सुना है कि "हम महीने के

प्रारम्भ में अमीर, बीच महीने में बीच की स्थिति वाले और महीने के अन्त में गरीब।" अब ऐसे घरों में तो दान की तो आशा ही छोड़ दीजिये। इस सारी अव्यवस्था को सुधारने की शक्ति यदि किसी में है तो यह देवी है। यदि वह ठीक-ठीक व्यवस्था करे तो सब कुछ और आनन्दपूर्वक सम्पन्न हो सकता है।

इसके अतिरिक्त शास्त्रकारों ने देवियों को निम्न छः दोषों से बचने के लिये भी चेतावनी दी है—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारी सन्दूषणानि षट् ॥ मनु० ९।१३

(१) मादक द्रव्यों का (मद्य भांग आदि) सेवन। क्योंकि ये द्रव्य बुद्धि में विकार उत्पन्न कर देते हैं। ऐसे व्यक्ति को कर्तव्य और अकर्तव्य का विवेक नहीं रहता। विशेष कर मद्यपायी तो अपने चरित्र को सुरक्षित रख ही नहीं पाता। (२) दुष्ट पुरुषों का संग, बुरे व्यक्ति सदा निकृष्ट चर्चाएं और ऊलजलूल बातें करते रहते हैं, इन कुचेष्टाओं का प्रभाव साथ रहने वालों पर भी अवश्य होता है अतः सन्मार्ग पर चलने के इच्छुक प्रत्येक स्त्री पुरुष को इस प्रकार के कुसंग से बचना ही चाहिए (३) चिरकाल तक पत्नी का पति से वियोग और पति से पत्नी के वियोग से भी गृहस्थियों को बचना चाहिये। (४) व्यर्थ ही इधर-उधर घूमते फिरते रहना। इस व्यसन से भी मन में चञ्चलता उत्पन्न होती है जिससे चारित्रिक पतन हो सकता है। (५) अपने घर को छोड़कर दूसरों के घर जाकर सोना। इसमें भी चारित्रिक पतन की सम्भावना है। (६) अपने घर में कम और दूसरों के घर में अधिक उठना-बैठना। इस दोष से एक तो ऐसी देवी का अपमान होने लगता है। क्योंकि प्रत्येक समय के इस धरने से सब लोग ऊब जाते हैं। अपने-अपने घर में प्रत्येक गृहस्थ में अनेक प्रकार की बातें होती रहती हैं। कभी किसी घर के सदस्य को विशेष

समझाना बुझाना है कभी किसी समस्या पर मिलकर विचार करना है। ऐसे अवसर पर किसी दूसरे व्यक्ति की उपस्थिति बहुत खटकती है और ऐसे व्यक्ति से लोग पीछा छुड़ाना चाहते हैं।

दूसरे प्रत्येक समय के निवास से बहुत खुलापन आने से इसमें भी चरित्र भ्रष्ट होने का भय है। मुख्य रूप से इन छहों दोषों से, सब से अधिक चरित्र के विकृत होने का ही भय है। इसी लिए इन विकारों से देवियों को बचना चाहिए। महर्षि दयानन्द जी महाराज ने इन दोषों को पुरुष के लिए भी उसी प्रकार त्याज्य बताया है। क्योंकि दुश्चरित्रता के बराबर गृहस्थ के सुख का विनाश करने के लिए और कोई अन्य दुर्गुण नहीं है।

"पञ्च महायज्ञ"

मानव जीवन के परम उद्देश्य अभ्युदय और निःश्रेयस को क्रमशः प्राप्त करने की दृष्टि से ऋषियों ने गृहस्थियों के लिए पांच महा यज्ञों का करना भी आवश्यक बताया है। इन यज्ञों का अनुष्ठान कितना आवश्यक है? यह "महा यज्ञ" नाम से ही सुतरां स्पष्ट है। यज्ञ का एक सामान्य अर्थ है कर्त्तव्य (Duty) और महायज्ञ का अर्थ हुआ (Great duty) अर्थात् इस कर्तव्य के पालन में कभी प्रमाद नहीं आना चाहिए। इसीलिए मानव धर्म शास्त्र में आज्ञा दी,

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा। नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥ मनु० ४।२१

अर्थात् ब्रह्म यज्ञ, देव यज्ञ, बलिवैश्व देव यज्ञ, अतिथि यज्ञ, और पितृ यज्ञ इन पाँच महायज्ञों को जहा तक हो सके कभी न छोड़ें। इनका अनुष्ठान अवश्य करें। इन पांचों यज्ञों में से पहला स्थान ब्रह्म यज्ञ का है। ब्रह्म यज्ञ शब्द के मुख्य रूप से दो भाव हैं। एक तो वेदादि शास्त्रों का स्वाध्याय और दूसरा संध्या, ईश्वरोपासना। आज के हमारे गृहस्थ में से ये दोनों ही पवित्र कर्तव्य समाप्तप्राय हैं। हमारे पूर्वजों ने स्वाध्यायपर जितना बल दिया है और स्वा-

ध्याय की जितनी प्रशंसा की है, कदाचित् किसी दूसरे धर्म की उतनी नहीं। आपके परिचय के लिए उसका दिग्दर्शन मात्र निम्न प्रकार है—

अथातः स्वाध्याय प्रशंसा—प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतो युक्तमना भवत्यपराधीनोऽहरहरर्थान् साधयते। सुखं स्वपिति परमचिकित्सक आत्मनो भवतीन्द्रियसंयमश्चैकारामता च प्रज्ञावृद्धिर्यशो लोकपंक्तिः। प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणमभिनिष्पादयति, ब्राह्मण्यं प्रतिरूपचर्या यशोलोक पंक्तिम्। लोकः पच्यमानश्चतुर्भिर्धर्मैः ब्राह्मणं भुनक्त्यर्चया च, दानेन च, अज्येयतया च अवध्यतया च ॥१॥

अब स्वाध्याय की प्रशंसा करते हैं। जो व्यक्ति स्वाध्याय और प्रवचन में अनुराग रखता है, वह संयमी होकर नित्य अपने कार्यों में सफलता प्राप्त करता है। बह निश्चिन्त होकर सोता है। उसका आत्मा बलवान् हो जाता है, उसकी इन्द्रियां उसके वश में रहती हैं। वह मेघावी हो जाता है और उसका यश लोक में फैल जाता है।

ये ह वै के च श्रमाः : इमे द्यावापृथिवी अन्तरेण स्वाध्यायो हैव तेषां परमा काष्ठा य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥२॥

संसार में जितने भी परिश्रम के काम हैं उनमें सबसे अधिक श्रमसाध्य स्वाध्याय है। इसलिए विद्वान् मनुष्य को स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

यद्यद्ध वायं छन्दसः स्वाध्यायमधीते तेन तेन हैवास्य यज्ञ क्रतुनेष्टं भवति य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥३॥

स्वाध्यायशील व्यक्ति जिस जिस वेद का स्वाध्याय करता है। उसे वह फल प्राप्त होता है जो एक याज्ञिक को होता है इसलिये **स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।**

यदि ह वा अप्ययुक्तः अरंकृतः सुहितः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायमधीते, आहैव स नखाग्रेभ्यस्तप्यते य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः । ।।४।।

जो व्यक्ति सब प्रकार से सुख और सुविधा का जीवन व्यतीत करता हुआ आनन्द से गद्देदार पलंग पर लेटा हुआ भी यदि स्वाध्याय करता है तो मानो वह घोर तप कर रहा है इसलिए स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए ।

मधु ह वा ऋचः घृतं ह सामान्यमृतं यजूंषि ।।५।। मधुनाह वा एष देवांस्तर्पयति । य एवं विद्वान् ऋचोऽहरहः स्वाध्यायमधीते त एवं तृप्तास्तर्पयन्ति सर्वैः कामैः सर्वैं भोगैः ।।६।।

जो विद्वान् ऋग्वेद और यजुर्वेद का स्वाध्याय करता है मानो वह देवों को मधु और घी से तृप्त कर रहा है। वे तृप्त देव भी उसकी सब कामनाएं पूरी करते हैं ।

घृतेन ह वा एष देवांस्तर्पयति । य एवं विद्वान् सामान्यहरहः स्वाध्यायमधीते त एवं तृप्तास्तर्पयन्ति सर्वैः कामैः सर्वैं भोगैः ।।७।।

जो सामवेद का स्वाध्याय करता है मानो घी से देवों को तृप्त कर रहा है जो विद्वान् इस प्रकार नित्य स्वाध्याय करता है। ये तृप्त देव उसकी सब कामनाएं पूरी करते हैं ।

अमृतेन ह वा एष देवांस्तर्पयति । य एवं विद्वान् यजूंष्यहरहः स्वाध्यायमधीते त एवं तृप्तास्तर्पयन्ति सर्वैः कामैः सर्वैंभोगैः ।।८।।

इसी प्रकार यजुर्वेद का अध्येता मानो अमृत से देवों को तृप्त करता है। वे तृप्त देव उसकी अभिलाषा के पूरक होते हैं ।

यन्ति वा आपः एत्यादित्यः एति चन्द्रमा, यन्ति नक्षत्राणि । यथा ह वा एता देवता नेयुर्न कुर्यु रेव हवै तदहर्ब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायं नाधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः-तस्मादप्यृचं वा यजुर्वा साम वा गाथां वा कुंब्यां वा अभिव्याहरेत् व्रतस्याविच्छेदाय ।।१०।। शतपथ० काण्ड ११ अ० ५ ब्रा० ७।

जल, सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र सब गति कर रहे हैं जिस दिन एक विद्वान् स्वाध्याय न करे तो ऐसा जानिये मानो सृष्टि के ये सब आधार गतिशून्य हो गये हैं और यदि ये अपना काम छोड़ दें तो संसार की क्या दशा होगी ? इसलिए चाहे कुछ हो मन्त्र-आधा मन्त्र अथवा अन्य कोई थोड़ा बहुत शास्त्र अवश्य पढ़ना चाहिए। ताकि ब्रह्म की रक्षा हो। इस समय तो अपने शास्त्रों और वेदों की रक्षा के लिए पहले से कहीं अधिक सावधान होने की आवश्यकता है। क्योंकि अंग्रेजी के विषैले प्रभाव ने हमारे मन और मस्तिष्क को बदल कर रख दिया है। अब कौन सुनता है पतञ्जलि की इस बात को कि **"ब्राह्मणेन निष्कारणं षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति।"** (महाभाष्य)॥ कि ब्राह्मण को बिना किसी उद्देश्य के वेद और वेदांगों का अध्ययन करना चाहिए। सम्प्रति मूलरूप से तो वेद और उसके अंगों का अध्ययन समाप्त-सा ही हो गया है। हां, जो लोग पढ़ते हैं ये अंग्रेजी गुरुओं की लिखी हुई मनमानी ऊलजलूल बातें वेद के विषय में पढ़ते हैं। उसका परिणाम यह हो रहा है कि वेद-शास्त्रों, ऋषियों और मुनियों से उनकी श्रद्धा ही समाप्त हो जाती है। यदि आपको विश्वास न हो तो श्री कन्हैयालाल माणिक लाल मुन्शी जी के लोपामुद्रा आदि ग्रन्थों को, उन्हीं के तत्वावधान में उन्हीं के असत् प्रयत्न से प्रणीत "वैदिक एज" नाम के ग्रन्थ को तथा श्री राहुल सांकृत्यायन के ऋग्वेद पर लिखे ग्रन्थ को आप किसी ऐसे व्यक्ति को पढ़वाकर देख लीजिए जो वेद के सम्बन्ध में आर्यसमाज की विचार-धारा से परिचित न हो। फिर देखिये कि उस व्यक्ति की मनोदशा अपने पूर्वजों और उनके साहित्य के विषय में क्या बनती है ?

शेख ने मस्जिद बना मिस्मार बुतखाना किया।
पहले तो कुछ शक्ल भी थी अब साफ वीराना किया॥

बिना पढ़े-लिखे लोगों में वेद और शास्त्र के नाम पर फिर भी थोड़ी बहुत श्रद्धा थी। किन्तु पछाही गुरुओं के चेलों ने बिलकुल

मैदान साफ कर दिया है। अतः आर्यसाहित्य और आर्यसंस्कृति के लिये जितना भयंकर समय आज उपस्थित है उतना अतीत काल में कभी नहीं आया। पुराकाल में हमारे साहित्य पर आपत्ति बाहर की थी। हमारे पुस्तकालयों को आग लगा दी जाती थी। ग्रन्थ-भंडार नष्ट कर दिये जाते थे। किन्तु श्रद्धा की अतिशयता के कारण यहां के मेधावी ब्राह्मणों ने वेद और शास्त्रों को कण्ठस्थ करके उनकी रक्षा की। किन्तु अंग्रेज ने मुसलमान के समान साहित्य को जलाया तो नहीं, पर अपने दूषित साहित्य से हमारे मस्तिष्क में वह विष भर दिया कि वेद और शास्त्रों में क्या है ? यह जानने की हमें कभी उत्सुकता ही नहीं होती। अतः आज के सद्गृहस्थियों को अपनी संस्कृति के मूल स्रोत साहित्य को पढ़ने-पढ़ाने के लिए विशेष यत्न करना चाहिए। हम इस दिशा में दूसरे सम्प्रदायवादियों से बहुत कुछ शिक्षा ले सकते हैं। मुसलमानों को देखिये स्कूल की पढ़ाई से पूर्व उनकी अपनी धार्मिक पढ़ाई पहले प्रारम्भ होती है। छोटे-छोटे बालक और बालिकाएं कुरान घोटने में लगे रहते हैं। यदि आपको भी वेद की रक्षा करनी है तो वह आपके बच्चों के पढ़ने से ही होगी।

तो एक तो गृहस्थ में ब्रह्मयज्ञ का यह रूप श्रद्धा और उत्साह-पूर्वक चलना चाहिए : दूसरे ईश्वरोपासना का अनुष्ठान श्रद्धापूर्वक होना चाहिए। प्राचीन काल में सामाजिक दृष्टि से भी ईश्वरोपासना को इतना महत्व प्राप्त था, कि जो व्यक्ति प्रातः सायं संध्या नहीं करता था, उसे द्विजों में से बहिष्कृत कर दिया जाता था। मनु जी ने अपने धर्म ग्रन्थ में यही व्यवस्था दी है:...

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यस्तु पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः। मनु २।११३

अर्थात् जो प्रातः और सायं संध्या नहीं करता, उसको विद्वान् लोग सब द्विजों के कर्मों से बहिष्कृत कर दें। रामायण और महा-भारत को पढ़ने से यह विदित होता है कि संध्या का समय होते ही लोग अपने कार्यों को छोड़ कर प्रभु-भजन में लग जाते थे। जब

ऋषि विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को अपने साथ ले गये तो उन्होंने विशेष रूप से सायं और प्रातः की संध्या की चर्चा उनसे की। इसी प्रकार हनुमान् जब लंका में माता सीता को देखने गये तो घूमते-घूमते अशोक वाटिका में वह एक नदी पर पहुंचे और प्रसन्न होकर कहने लगे—

यदि जीवति सा देवी ताराधिपनिभानना।
आगमिष्यति सावश्यमिमां पुण्यां महानदीम्॥
सन्ध्याकालमना श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
इमां नदीं शीतजलां संध्यार्थे वरवर्णिनी॥

यदि चन्द्रमुखी जानकी जीवित है और लंका में ही है तो संध्या करने के लिए इस सुन्दर नदी के किनारे अवश्य आवेगी। शास्त्रकारों ने प्रत्येक मनुष्य को प्रातः और सायम् एक घण्टा प्रभुस्मरण में लगाने का आदेश दिया है। यह क्रम यदि प्रारम्भ से ही चलता रहे तो मनुष्य अपने जीवन के लक्ष्य से भटकता नहीं है।

इस समय हमारी वह प्राचीन परम्परा सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गयी है। हमारे सामूहिक और वैयक्तिक जीवन में संध्या को कोई महत्व ही प्राप्त नहीं है। यह एक बहुत बड़ी न्यूनता है। संध्या केवल पारलौकिक उन्नति का साधन ही नहीं है अपितु इस लोक में भी तो जब तक मनुष्य के जीवन में विवेकता और स्थिरता न आवे, वह कैसे अभ्युदय प्राप्त करेगा। विवेकिता और स्थिरता के लिए आत्म-चिन्तन आवश्यक है। आत्मनिरीक्षण के बिना कई बार समझी गयी उन्नति आत्मप्रवञ्चना ही होती है। इस बिन्दु पर क्या ही सुन्दर प्रकाश डाला है किसी शायर ने—

अपने मन में डूबकर पा जा सुरागे जिन्दगी।
तू मेरा नहीं बनता न बन, अपना तो बन॥

इसलिये संध्या का क्या महत्व है? इस बात से समझा जा सकता है। परिवार में अधिक नहीं तो थोड़ा समय निकाल कर

सम्मिलित संध्या करनी चाहिये। इससे घर में एक सुखप्रद वायुमण्ड़ल तैयार होता है। अनेक स्थितियों में सम्भलने का अवसर और शक्ति प्राप्त होती है। अपने परिचित एक सज्जन का उदाहरण मेरे समक्ष है। वे कुछ आत्मचिन्तन और गीता का पाठ किया करते थे। एक दिन घर में एक साधारण-सी बात पर वे आग बबूला हो उठे। उनकी यह दशा देखकर उनकी पत्नी ने खिन्न होकर शान्त-भाव से कहा—"हमने तो सुना है कि गीता पढ़ने वालों को और संध्या करने वालों को क्रोध नहीं आता।" इन शब्दों का उन सज्जन पर गम्भीर प्रभाव हुआ और वह शान्त होकर अपनी भूल पर पश्चात्ताप करने लगे। अतः पांच महायज्ञों में पहला ब्रह्मयज्ञ परिवार में नित्य होना चाहिए।

दूसरा महायज्ञ है अग्निहोत्र। इस अग्निहोत्र के लिए भी शास्त्रों के विशेश आदेश हैं। भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से बहुत बड़ी महिमा यज्ञ की है। आजकल सारे संसार में वातावरण को दूषण से बचाने की बहुत बड़ी चर्चा है। किन्तु वायुमण्डल शुद्धि के लिए अग्निहोत्र से बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं हो सकता। पर ये अंग्रेजी पढ़े-लिखे तब तक इस तथ्य का आदर नहीं करेंगे जब तक इनका कोई पंछायी गुरु ही यह व्यवस्था नहीं दे देगा। मिस्टर थोसर ने इस सम्बन्ध में एक चुटकी लेते हुए लिखा है—

The proud westerners got world of the scientific end of the stick and groped labouriously along its length for centuries to find at the other end a venerable old Rishi of vedic times chuckling under his luckuriant beard "Did I not tell you so"

अभिमानी पाश्चात्यों ने विज्ञान रूपी लकड़ी का एक सिरा पकड़ा और सैकड़ों वर्षों तक टटोलते-टटोलते लकड़ी के दूसरे सिरे पर जा पहुंचे। जहां भारत का बूढ़ा ऋषि अपनी लम्बी दाढ़ी पर मौज से हाथ फेर रहा था। और पाश्चात्यों के उस सिरे पर पहुंचते

ही मुस्कराकर कहा कहो महाशय ! हम पहले ही न कहते थे कि आखिर यहीं आना पड़ेगा।

ऋषियों ने प्रत्येक गृहस्थ को प्रातः और सायम् नित्य १६ आहुतियों से यज्ञ करने का विधान किया है। इस नित्य यज्ञ को करने से मनुष्य वायुमण्डल की उतनी शुद्धि कर देता है जितना कि वह अपने मलमूत्र और श्वास-प्रश्वास से वायु को दूषित करता है। इस दैनिक अग्निहोत्र को करने से कोई पुण्य नहीं होता—क्योंकि जितनी गन्दगी फैलायी है उतनी ही सफाई की है। इस लिए इसमें पुण्यार्जन का प्रश्न ही नहीं उठता। हां न करने वाले को पाप अवश्य होता है। क्योंकि वह गन्दगी फैलाकर दूसरों का स्वास्थ्य विकृत कर रहा है। अतः अधिक नहीं तो नित्य यज्ञ १६ आहुतियों का अवश्य करना चाहिए। मनुष्य का मुख्य जीवनाधार वायु है। वायु का शुद्ध और उत्तम रखना बहुत आवश्यक है।

अग्निहोत्र का दूसरा लाभ जो बहुत महत्त्वपूर्ण है, आध्यात्मिक है। अग्निहोत्र से मनुष्य को समाज में जीवन व्यतीत करने की शिक्षा प्राप्त होती है। अग्निहोत्र की पहली शिक्षा है, "त्यागपूर्वक भोग"। यजुर्वेद के शब्दों में "तेन त्यक्तेन भुँजीथाः" परिश्रम से उपार्जित ऐश्वर्य को दूसरों की आवश्यकता पूरी करते हुए अपने उपभोग में लाओ। क्योंकि जो तुम कमाते हो समाज के सहयोग से कमाते हो। अतः उस कमाई में समाज का भी भाग है। आपकी बुद्धिमत्ता और क्षमता से स्वामित्व आपको अवश्य प्राप्त है। किन्तु नैतिकता के आधार पर और संसार को सुखी बनाने के लिए भी जो समाज का भाग है, उसे समाज को अर्पण करके ही भोगना चाहिए।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।। गीता ।३।१०

भगवान् ने मनुष्य को यज्ञ के साथ-साथ उत्पन्न किया है। इससे

ही मनुष्य फूल-फल सकता है और इसी से उसकी सब इच्छाएं पूर्ण होंगी।

दूसरों के सुख स्वास्थ्य की उपेक्षा करके केवल अपनी अनुकूलता और सुविधा का ध्यान रखना मानवता नहीं, पशुता है। मनुष्य वह है जो प्रत्येक काम में पहले दूसरों का विचार करता है और दूसरों का हितसाधन होने पर अपने निर्वाह की व्यवस्था भी करता है। यही दैवी प्रवृत्ति है। केवल स्वयं अपने तक अपने परिवार और अपने वर्ग तक अपने आपको सीमित रखना आसुरी प्रवृत्ति है। शतपथ ब्राह्मण में इसी बात को बड़े रोचक ढंग से इस प्रकार कहा है।

देवाश्च वा असुराश्च वा उभे प्राजापत्याः पस्पर्धिरे। ततोऽसुरा अतिमानेनैव कस्मिन्नु वयं जुहुयामेतिस्वेष्वेवास्येषु जुह्वतश्चेरुः। ते अतिमानेनैव पराबभूवुः। तस्मान्नातिमन्येत पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः।

प्रजापति के दोनों पुत्र देव और असुर आपस में स्पर्धा करने लगे। असुर अहंकार में आकर परहित को व्यर्थ समझ कर केवल अपनी स्वार्थपूर्ति में लिप्त होकर संसार के सुख भोगने लगे। इस कारण ही वे परास्त हो गये। क्योंकि स्वयं अपना ही ध्यान रखना यह पराभव और पतन का मुख्य द्वार है।

अथ देवा अन्योऽन्यस्मिन्नेव जुह्वतश्चेरुः।
तेभ्यः प्रजापतिरात्मानं ददौ।
यज्ञो हैषामास यज्ञो हि देवानामन्नम्॥

शतपथ ११।१।८।१-२

दूसरी ओर देवों ने प्रथम एक दूसरे का हितसाधन किया और पश्चात् अपना लाभ। इससे वे बढ़ते चले गये। प्रजापति ने उन्हें आशीर्वाद दिया। क्योंकि उनका जीवन यज्ञमय था। यज्ञ का मार्ग ही अच्छे मनुष्यों के चलने योग्य है।

वैदिक संस्कृति याज्ञिक संस्कृति, त्यागप्रधान संस्कृति है। इसमें मनुष्य को प्रत्येक कर्म यज्ञरूप में करने का आदेश है। वेद में उपदेश है कि तेरी आयु यज्ञमय हो। दूसरों के लिए अपने स्वार्थ की आहुति और अपने भोग को ही प्रमुखता दी जावेगी तो भोग का अनिवार्य परिणाम होता है द्वेष, द्वेष का दुःख और दुःख का अशांति। उधर त्याग का अनिवार्य परिणाम है प्रेम, प्रेम का सुख, सुख का शान्ति। भोगी मनुष्य भोगासक्त होता है। आसक्ति की विरोधी वस्तुओं से द्वेष होगा। जहाँ द्वेष है वहां दुःख अनिवार्य है और जहां दुःख है वहां अशान्ति रहती ही है। इसी प्रकार जहां त्याग होता है वहीं प्रेम होता है। प्रेम की अधिष्ठान भूमि है त्याग और प्रेम की विनाशक भूमि है स्वार्थ। यह अनुभूत सार है, जहां प्रेम है वहीं सुख है। इसके अतिरिक्त जहां ध्येय त्याग होता है वहाँ जीवन में कर्त्तव्यपालन की प्रधानता होती है और जहां ध्येय भोग होता है वहां भोगप्राप्ति के अधिकार भी।

आज के संसार में अशान्ति इस भोग-प्रधान पाश्चात्य संस्कृति ने उत्पन्न की हुई है। दुःख की वात है कि स्वतन्त्रता के बाद भारत भी पूर्वजों के मार्ग को न अपना कर उसी पाश्चात्य संस्कृति के पथ की ओर अग्रसर हो रहा है। अतः यहां भी वही परिणाम है। यद्यपि पश्चिम के ही कुछ मनीषियों ने भारत को वह मार्ग न अपनाने के लिए सावधान किया। आर्यन रूल (Arayan Rule) आदि पुस्तकों के लेखक हैवल महोदय ने भारतीयों को परामर्श दिया था कि—

None but the ignorant will recommend you the path of western commercialism, as leading to true national, prosperity No where in India not utter depravity, such a hopeless physical moral and spiritual degradation as that which exists in the commercial cities of Europe directly brought out by modern industrial methods.

अर्थात् सिवाय उस पुरुष के जो अज्ञानी है, तुम्हें कोई भी राष्ट्रीय उन्नति के लिए पाश्चात्य व्यवसायवाद का अनुसरण करने

के लिए न कहेगा। भारत में भयंकर से भयंकर अकाल के समय में भी, किसी भी प्रान्त में, इतनी दुराचार की सीमा, इतना निराशा-जनक उपाय रहित शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक पतन नहीं हुआ है—जितना कि इन व्यावसायिक और आधुनिक औद्योगिक प्रक्रियाओं का अपनाने वाले योरुप के महान् नगरों में।

इसी सम्बन्ध में रस्किन के विचार देखिये—

Atlas ! if read rightly, these perfections are the signs of a slavery in our England a thousand times more bitter and degarding than that of the seourged Africon of helot Greek:" ये व्यावसायिक उन्नति के चिन्ह वास्तव में एक गुलामी के चिन्ह हैं जो अफ्रीका और यूनान के दासों की अवस्था से भी हजार गुणा अधिक कड़वी और गिराने वाली हैं।

प्रो० हैक्सले की सम्मति और देख लीजिये। Even the best of modern civilisation appears to me to exhibit a condition of mankind which neither embodies any worthy ideal nor even possesses the merit of stability. If there is no hope of a large improvement of the conditions of the greater part of the human family I would sweep the whole affair away as a desirable consumation.

अच्छी से अच्छी भी आधुनिक सभ्यता मनुष्यों की एक ऐसी दशा की सूचना देती है जिसके सामने न तो कोई उच्च आदर्श ही है और न स्थिरता। यदि मनुष्य जाति की बहुसंख्या की अवस्था में किसी बड़े भारी परिवर्तन की आशा न हो तो मैं एक ऐसे दयालु धूम्रकेतु के आगमन का अभिनन्दन करूंगा जो आकर सारे जगत् का एकदम संहार करदे।

प्रो० हैक्सले तो यहां तक निराश और क्षुब्ध हैं कि लण्डन के सभ्य नागरिक की अपेक्षा जंगली को अधिक पसन्द करते हैं। उन

के शब्द ये हैं—were the alternative presented to me I would delibe.ately prefer the life of the savage to that of the people of the christion london. अर्थात् यदि मेरे सामने एक जंगली और क्रिश्चियन लण्डन के लोगों में से किसी एक के जीवन को पसन्द करने का विकल्प रखा जावे तो मैं जान बूझकर विवेकपूर्वक जंगली के जीवन को ही पसन्द करूंगा।

अतः परिणाम वही निकलता है कि संसार को सुखी और शान्त बनाने के लिए त्यागमय जीवन बिताना चाहिए। गीता में तो यहां तक कह दिया है कि—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

यज्ञशेष अर्थात् दूसरों को खिलाकर खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूट जाते हैं। जिनके घर में केवल अपने लिए भोजन पकता है वे अन्न नहीं खाते, पाप खाते हैं। यही बात मनु ने कही है—

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्। अथववेद में भी यही "केवलाघो भवति केवलादी" कहा गया है।

तो यह दूसरा महायज्ञ प्रत्येक परिवार में नित्य होना चाहिए। इस यज्ञ के लिए घर में एक नियत स्थान होना चाहिए जहां यज्ञ की सब सामग्री सुरक्षित रहे। इस व्यवस्था से समय भी अधिक नहीं लगेगा और उस स्थान को देखकर यज्ञ करने की प्रेरणा भी होती रहेगी। आजकल देखा है लोग बड़े-बड़े सुन्दर भवन बनवाते हैं। जहां प्रत्येक कार्य के लिए पृथक्-पृथक् कक्ष होते हैं। किन्तु आध्यात्मिक कर्तव्यों के निर्वाह के लिए कोई कमरा नहीं बनाया जाता। यह एक बहुत बड़ी त्रुटि है और इसका निराकरण अवश्य होना चाहिए। हमारे कुछ मित्रों के घरों में भी यज्ञशाला है। मैंने स्वयं यह अनुभव किया है कि जब-जब उस ओर जाना होता है तो अनायास उस कर्तव्य की ओर ध्यान आकृष्ट हो जाता है। अतः

गृहस्थ को स्वर्ग बनाने वाला यह दूसरा महायज्ञ है देवयज्ञ (अग्निहोत्र)।

अब तीसरा महायज्ञ है बलिवैश्वदेव-अर्थात् जाने-अनजाने अन्य जीवों की हमारे आचरण से जो हिंसा और हानि होती है—उसकी यत् किञ्चित् क्षतिपूर्ति। यद्यपि वेद में प्रजा के लिए उत्पीडक हिंस्र पशुओं को मारने का आदेश है। "घनेन हन्मि वृश्चिकमहिं दण्डेनागतम्" (यजुर्वेद) कि बिच्छू को पत्थर से कुचल दो और सांप को डंडे से मार दो। किन्तु यह व्यवस्था वहीं तक समाधेय है जहां तक कि वह बस्ती को पीड़ा देते हैं और जीवन को हानि पहुंचाते हैं। अन्यथा इन पशु-पक्षिओं के द्वारा भी प्राणिसमाज का अनायास ही बहुत उपकार हो रहा है। यही प्रभु की बुद्धिमत्तापूर्ण रचना है। जहां ये पशु-पक्षी और सरीसृप् अपने कर्मों का भोग भोग रहे हैं वहां ये सृष्टि के लिए उपकारक भी हैं। सांप, बिच्छू और विषैले जीवों में विष कहां से आया ? यह सब विषाक्त वायु और उनके भोज्य पदार्थों से उनके शरीर में संगृहीत हुआ है। यदि ये चील, गिद्ध कौए और श्वान आदि न होते तो सोचिए गन्दगी की क्या हालत होती ! हमारे लिए हानिकारक गन्दगी इन जीवों का भोजन है। इस गन्दगी को ये खा-पचा जाते हैं। इसका जो विषैला भाग है वह इनके शरीर में इकट्ठा होता रहता है किन्तु दूसरों को ये शुद्ध वायु देते हैं। यही कारण है कि शतपथ ब्राह्मण में सूअर को भी यज्ञीय पशु कहा है। सूअर गन्दगी को समाप्त करके वायुमण्डल को कितना शुद्ध कर रहा है और आश्चर्य है कि सूअर मल की दुर्गन्ध को समाप्त कर देता है किन्तु सूअर के मल में वह दुर्गन्ध नहीं होती। इस प्रकार विचार करके आप इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि जीवन-निर्वाह के लिए हमारे द्वारा इन जीवों को हानि पहुंचती है, तो हमारा कर्त्तव्य है कि विवशता के लिए पश्चात्ताप की भावना रखते हुए यथाशक्ति इन प्राणियों को और पाप रोगी कुष्ठी आदि मानवों को भी लाभ पहुंचाने का यत्न करें। इस भावना से मनुष्य का दृष्टिकोण उदार

होता है और उसका आतमा उन्नत होता है। अतः गृहस्थ का यह तीसरा कर्तव्य हुआ बलिवैश्वदेव यज्ञ।

अब इसके बाद चौथा यज्ञ हुआ अतिथि यज्ञ। ऐसे त्यागी, तपस्वी विद्वान् और महात्मा जो अपना कोई निजी कारोबार नहीं करते ओर समाज के उपकार के लिए ही घूमते फिरते हैं, वे जब भी गृहस्थ के घर जावें तो इन महात्माओं का बहुत ही श्रद्धा से आदर-सत्कार होना चाहिए। संसार में भलाई का मार्ग ऐसे ही तपस्वियों के द्वारा प्रशस्त होता है। ऐसे व्यक्ति बिना लाग लपेट के जो बात जैसी होनी चाहिए वह विना किसी झिझक के कह देते हैं और इनके अंकुश से मर्यादा की रक्षा होती है। उदाहरणार्थ विश्वामित्र ऋषि महाराज दशरथ के दरबार में गये। महाराज ने खड़े होकर उनका आदर-सत्कार किया और कहा कि कोई सेवा हो तो निःसंकोच कहिये। मुझे आपकी आज्ञा का पालन करने में बड़ी प्रसन्नता होगी। विश्वामित्र ऋषि ने उचित अवसर समझकर उत्तर दिया कि मेरे यज्ञ में राक्षस बाधा डालते हैं। मैं उनके निवारण के लिए राम और लक्ष्मण को ले जाना चाहता हूं। कृपया दोनों राजकुमारों को मेरे साथ भेजने की अनुमति दीजिये। दशरथ की बुढ़ापे की सन्तानें थीं। उनसे बहुत अधिक मोह था। उन्हें भेजने में वे आनाकानी करने लगे। ये दोनों राजकुमार अभी कोमल बालक हैं। इनकी अपेक्षा राक्षसों के संहार के लिए मेरा चलना ठीक रहेगा। दशरथ की यह दशा देखकर गुरु वशिष्ठ ने डाँटते हुए कहा—

प्रतिश्रुत्य करिष्येति, उत वाक्यमकुर्वतः।
इष्टापूर्तवधो भूयात्तस्माद्रामं विसर्जय॥

राजन्! पहले आज्ञापालन का वचन देकर आप टालमटोल कर रहे हैं। इससे आप का सब यज्ञ-फल इष्ट और पूर्त नष्ट हो जायेगा। इसलिए आप राम को विश्वामित्र के साथ अवश्य भेज दीजिये। गुरु की इस फटकार को सुनकर न चाहते हुए भी राजकुमारों को

विश्वामित्र के साथ भेजना पड़ा। तो इस प्रकार के कड़वे काम त्यागी विद्वान् ही कर सकते हैं। जिसे अपनी हानि का डर अथवा लाभ का आकर्षण होगा—वह उचित को नहीं देखता अपितु मालिक की प्रसन्नता और अप्रसन्नता को अधिक देखता है और 'ठकुरसुहाती' कह देता है। अतः भलाई का मार्ग प्रशस्त करने के लिए और मर्यादा की रक्षा के लिए ऐसे तपस्वियों की सेवा का कर्त्तव्य गृहस्थियों को अवश्य निभाना चाहिए।

अब इन महायज्ञों में अन्तिम और महत्त्वपूर्ण यज्ञ आया "पितृयज्ञ"। माता-पिता की सेवा। धर्मानुकूल उनकी आज्ञाओं का पालन करके उनको प्रसन्न करना।

आजकल दुर्भाग्य से गृहस्थ-शृंखला की यह आवश्यक कड़ी तो नष्ट ही हो गई है। इस समय ५% मां-बाप भी ऐसे नहीं मिलेंगे जिसको यह आशा हो कि हमारी शक्ति क्षीण होने पर हमारे पुत्र हमारी सेवा करेंगे। रामायण में आप पढ़ेंगे कि जब राम को वन से अयोध्या लौटने के लिए कहा गया तो अन्य युक्तियों के साथ-साथ राम ने एक मार्मिक उत्तर दिया—

पिताजी मुझे स्मरण करते-करते इस संसार से बिदा हुए। अब उनके पीछे मैं उनके वचन को न निभाऊं तो संसार के माता-पिता अपने पुत्रों से कोई आशा रखना समाप्त कर देंगे। आज वही आशा-तन्तु टूट गया है।

माता-पिता का सन्तान पर बहुत बड़ा ऋण है। शास्त्रकारों ने इस ऋण से छूटने के लिए यह व्यवस्था दी है कि आजीवन माता-पिता की सेवा करे और गृहस्थी बनकर अपनी सन्तान के पालन-पोषण में उन कठिनाइयों को सहन करे जो उसके माता-पिता ने उसे पालने और शिक्षित करने में सहन की हैं—तब उनके ऋण से मुक्त होगा। महाभारत में यक्ष और युधिष्ठिर का सम्वाद बहुत प्रसिद्ध है। यक्ष ने कुछ प्रश्न किये हैं और युधिष्ठिर ने उनके उत्तर

दिये हैं। उनमें से दो प्रश्न ये हैं "किं स्विद् गुरुतरं भूमेः, किं स्विद् गुरुतरञ्च खात्।" अर्थात् भूमि से भी भारी वस्तु क्या है? और आकाश से भी ऊंचा क्या है? इनका उत्तर युधिष्ठिर ने दिया: "माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चतरस्तथा" भूमि से भी भारी माता है अर्थात् भूमि के भार को आंका जा सकता है, किन्तु माता के हृदय में पुत्र के लिए क्या-क्या कामनाएं हैं यह नहीं जाना जा सकेगा। इसी प्रकार आकाश से भी ऊंचा पिता है। चाहे व्यक्ति आकाश की ऊंचाई माप ले, किन्तु पुत्र के लिए पिता के हृदय में क्या-क्या महत्वाकांक्षाएं हैं यह जानना सम्भव नहीं है।

इसलिए सन्तान का कर्त्तव्य है कि वृद्धावस्था में अपने माता-पिता की पूरी श्रद्धा और भक्ति से सेवा करे। प्राचीन काल में माता-पिता और सन्तानों को कर्तव्यबोध कराने के लिए प्रत्येक मास में अमावस्या और पूर्णिमा को दो यज्ञों का आयोजन होता था। इनमें से अमावस्या के दिन के यज्ञ का नाम होता था दर्श और पूर्णिमा वाले यज्ञ का नाम था पौर्णमास। इन दोनों यज्ञों को परिवार के सब बालक और बूढ़े मिलकर करते थे। दोनों यज्ञों में कुछ पकाकर और उसका चूरा करके कुछ भाग की यज्ञ में आहुतियां दी जाती थीं और शेष भाग को—यदि यह यज्ञ अमावस्या का होता था तो घर में ५० वर्ष के स्त्री-पुरुषों को आदरपूर्वक बैठाकर युवकों में से कोई उस यज्ञ-शेष को पहले बचे हुए भाग को आपस में बांटकर खाते थे और शान्तिपाठ के बाद यज्ञ समाप्त हो जाता था।

लगभग यही प्रक्रिया पौर्णमास यज्ञ में भी होती थी। अन्तर केवल इतना होता था। पूर्णिमा-यज्ञ की आहुतियों के पश्चात् ५० वर्ष से कम आयु के परिवार के सदस्यों को एक पंक्ति में बैठाकर घर के वृद्धों में से उस यज्ञ शेष को उनमें बांटकर उन्हें आशीर्वाद देकर और फिर वृद्धजन भी बांट खाकर यज्ञ समाप्त करते थे। इन यज्ञों से परिवार को वे यह शिक्षा दिया करते थे कि जिस प्रकार

महीने में कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष दो पक्ष हैं उसी प्रकार प्रत्येक परिवार में भी ये दोनों पक्ष हैं। कृष्णपक्ष में चन्द्रमा निरन्तर क्षीण होता जाता है और अमावस्या को वह आकाश में दिखलाई ही नहीं देता अर्थात् समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार ५० वर्ष से अधिक वय के परिवार के लोग कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा हैं। जिनकी शक्ति क्रमशः क्षीण हो रही है और एक दिन ऐसा आयेगा कि जैसे अमावस्या को चन्द्रमा अदृश्य हो गया था, उसी प्रकार ये भी परिवार में दिखायी नहीं देंगे। ५० वर्ष से कम वय के परिवार के सदस्य शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा हैं जिसकी कलाएं क्रमशः विकसित हो रही हैं और जैसे बढ़ते-बढ़ते चन्द्रमा पूर्णिमा को पूर्ण हो जाता है उसी प्रकार बच्चे बढ़ते-बढ़ते पूर्ण युवा हो जाते हैं, यह घर का शुक्ल-पक्ष है।

अब दोनों पक्षों का कर्तव्य यह है कि जिस प्रकार चन्द्रमा चाहे आंधी तूफान आए, चाहे आकाश में बादल की घटा घिरी रहे, कुछ भी हो किन्तु उसे जितना बढ़ना है उतना अवश्य बढ़ता रहेगा, इसी प्रकार माता-पिता पर चाहे हजार आपत्तियां आवें किन्तु बच्चों के बौद्धिक और शारीरिक विकास में कोई बाधा नहीं आने देनी चाहिये। इसी प्रकार युवकों का कर्तव्य है कि माता-पिता के अगणित उपकारों का ध्यान रखकर उनकी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति अपने से पहले करे। सेवकों के होते हुए भी माता-पिता की सेवा का कार्य अपने हाथों से करें। साथ ही माता-पिता के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में जो भी कर्त्तव्य हैं उनका उत्तराधिकारी बनें। केवल माता-पिता की सम्पत्ति पर ही अधिकार न करें अपितु जो उनके कर्त्तव्य थे उन्हें भी निभायें।

यह बहुत ही महत्त्व की बात है। शास्त्र में वर्णसंकर सन्तान की इसीलिये निन्दा है कि उसके होने से, "**नश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः**" परिवार में चले आ रहे उत्तम कर्मों की शृंखला समाप्त हो

जाती है। सन्तान शब्द का अर्थ है विस्तार। किस वस्तु का विस्तार—केवल वंश का ही विस्तार नहीं, अपितु वंश में क्रमागत गुणों का विस्तार। आजदुर्भाग्य से इन पैत्रिक कार्यों का उत्तराधिकारी सन्तान अपने आपको नहीं समझती। अत: समाज में एक व्यक्ति के चले जाने पर रिक्तता आ जाती है, उसको स्थानपूर्ति नहीं हो पाती।

अत: पितृयज्ञ का अर्थ हुआ अपने उत्तम आचरण और सेवाओं से माता-पिता को तृप्त करना अर्थात् सन्तुष्ट रखना, इसी का नाम श्राद्ध और तर्पण है। आश्विन के महीने में ब्राह्मणों को भोजन खिलाने का नाम श्राद्ध और तर्पण नहीं है। इसी पितृयज्ञ में विशेष रूप से बहू के द्वारा सास की सेवा का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। आज के गृहस्थ में सास और बहू के सम्बन्ध भी बहुत बिगाड़ पैदा करते हैं, इसमें प्राय: त्रुटि दोनों ओर से होती है। आज सास तो पहले से चौकन्नी रहती है कि बहू को किस प्रकार अंकुश में रखना है और बहू पहले से ही ट्रेण्ड होकर आती है किस प्रकार सास को सीधा करना है—बस यहीं से बात बिगड़नी प्रारम्भ होती है। आजकल की स्थिति का महाकवि पं० नाथूराम शंकर शर्मा ने एक अच्छा शब्द-चित्र खींचा है—

सास मरो सुसरा, पजरो जा बाखर में पल को न रहूंगी।
जेठ जलावा के मारूं पटा और देवर की भभकी न सहूंगी॥
सौत जिठानी छठी ननदी अब एक कहेगी तो लाख कहूंगी।
मोहि लेकर शंकर अन्त रहो नहि पीहर की कल गैल गहूंगी॥

होना यह चाहिए कि प्रत्येक सास तो यह सोचे कि जिस प्रकार मेरी लड़की किसी की बहू बनकर दूसरे घर में गई है, उसी प्रकार मेरी पुत्रवधू भी अपने परिवार को छोड़कर मेरे घर में आई है। जैसे मैं अपनी बेटी को प्यार करती थी, उसी प्रकार मुझे इससे भी प्रेम से व्यवहार करना चाहिए। जैसे मेरे कुछ कहने पर कभी मेरी लड़की भी बोल पड़ती थी तो मैं उसे बेसमझ मानकर उस बात का

बुरा नहीं मानती थी। मेरी पुत्रवधू भी उसी प्रकार अबोध है। यदि कभी यह भी कुछ कह बैठे तो मुझे उसे पल्ले बांध कर जीवन भर के लिए मन मलिन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार बहू का भी यह दृष्टिकोण होना चाहिए कि मैं अपनी जन्मदात्री माता को तो उस घर में छोड़ आयी हूं अब इस मेरे नये घर में पति की माता उसी जन्म देने वाली मेरी माता के स्थान पर मुझे प्राप्त हो रही है। जैसे मेरे बहुत से कामों पर मेरी माता मेरे लाभ के लिए मुझे कुछ कह-सुन देती थी, उसी प्रकार मेरी इस माता को भी मुझे कहने का अधिकार है। इन बातों पर बुरा मनाने का कोई कारण नहीं है। बस दोनों के दृष्टिकोणों में यदि यह परिबर्तन आ जावे तो घर शान्तिधाम बन जावे।

सास-बहू के सम्बन्ध के विषय में हनुमन्नाटककार ने एक सुन्दर दृश्य अंकित किया है। राम के वन-गमन के समय सीता जब माता सुमित्रा से बिदा लेने गयी तो माता ने कहा:—

कल्याणि पाणिपुटके तव लक्ष्मणोऽस्ति,
ब्रूमो न राम विषये पतिदेवतासि
याचे त्वया वरमिमं वनवासिनीषु
श्वश्रूस्सुता जगति सन्तीति नैव वाच्यम्॥

बेटी मैं लक्ष्मण का हाथ तेरे हाथ में देती हूं। इसे पुत्र के समान प्रेम से देखना। राम के विषय में तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं क्योंकि वह तो तेरा जीवनाधार ही है। किन्तु मैं विशेषरूप से तुझसे एक वर मांगती हूं कि जंगल में रहने वाली स्त्रियाँ जब सारे परिवार का परिचय तुझसे मांगा करें तो तू हम सासों को जीवित मत बताना। नहीं तो वे कहेंगी कि वे कैसी पाषाणहृदय सास थीं? जिन्होंने फूलसी कोमल बहू को जंगल में फेंक दिया और स्वयं राजमहलों में आनन्द करने रह गईं!

पितृभक्ति के लिए राम का जीवन तो आदर्श है। कैकेयी ने राम को कहा कि तुम्हारे पिता को यह सन्देह है कि राम जाने वन जाने की मेरी आज्ञा का पालन करेगा कि नहीं। इस बात को सुनकर राम तिल-मिला गये और बोले—

अहो धिङ्‌ नार्हसे देवि वक्तु मामीदृशं वचः।
अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च॥
तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकांक्षितम्।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥

वा० रा० अयो० कां० सर्ग १८

हे माता तुझे धिक्कार है—तू मेरे लिए इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग करती है। वन जाना तो साधारण सी बात है। पिताजी कहें तो मैं आग में कूद सकता हूं, हलाहल विष खा सकता हूं, और समुद्र में छलांग लगा सकता हूं। हे देवि मुझे पिताजी की अभिलाषा बता। मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि उसका पालन अवश्य करूंगा। राम सदा एक बात कहता है दो नहीं।

महाराज दशरथ की मृत्यु के बाद भरत ननसाल से आकर सारे मन्त्रिमण्डल को लेकर जब राम को वन से अयोध्या वापस लाने के लिए गये तो सभी ने बारी बारी से राम को अयोध्या लौट चलने की प्रेरणा की। इसी अवसर पर जाबालि ऋषि ने यह प्रेरणा राजा दशरथ की निन्दा के लहजे में की और कहा कि महाराज एक स्त्रैण पुरुष (जनमुरीद) थे। ऐसे व्यक्तियों के आदेश पालने-योग्य नहीं होते। इस पर राम ने ऋषि को घुड़कते हुए कहा कि पिताजी को निन्दनीय मैं भी मानता हूं, किन्तु कारण वह नहीं जो आप कहते हैं, अपितु इसलिए कि—

निन्दाम्यहं कर्मकृतं पितुस्तत्
यस्त्वामगृह्णाद् विषमस्थबुद्धिम् ।
जानान एवंविषया चरन्तम्
सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम् ।।

मैं पिता को लोगों को परखने में बड़ा निपुण समझता था। किन्तु वे आप जैसे अधार्मिक और नास्तिक को न पहचानकर अपने मन्त्रिमंडल में रखे हुए थे। इस विषय में निश्चित ही वे निन्दा के पात्र हैं। इस उत्तर को सुनकर ऋषि के मुंह पर ताला लग गया। इसी प्रकार जिस माता कैकेयी ने राज्याधिकार छीनकर वन भिजवाया था राम उसके लिए भी हृदय में अत्यन्त श्रद्धा रखते थे। भरत जब वन में राम से मिलने गये तो वन में राम को भेजने वाली अपनी माता के लिए कठोर वचन कहने लगे। राम ने तुरन्त भरत को झिड़का और कहा—

कुलीनः सत्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः ।
राज्यहेतोः कथं पापमाचरेन्मद्विधो जनः ।।

कुलीन, शक्तिशाली, तेजस्वी और चरित्रवान् मेरे जैसा व्यक्ति केवल राज्य के लिए पापाचरण कैसे कर सकता है ?

न दोषं त्वयि पश्यामि सूक्ष्ममप्यरिसूदन !
न चापि जननीं बाल्यात्त्वं विगर्हितुमर्हसि ।
वा० रा० अयो० सर्ग १०१

इसी प्रकार मैं तुम्हारा भी लेशमात्र दोष नहीं समझता। तुम बालकपन से माता की जो निन्दा कर रहे हो यह भी अनुचित है।

यहां हो सकता है कि किसी के मन में यह कल्पना हो कि राम भरत का मन रखने के लिए कैकेयी के प्रति दुनियादारी बरत कर आदर का भाव दिखा रहे हों ? सो यह बात नहीं है। वस्तुतः,राम के

मन में कैकेयी के प्रति भी बहुत आदर के भाव थे। अपनी इस बात की पुष्टि के लिए मैं रामायण का एक और हृदयहारी प्रसंग उद्धृत करना चाहता हूं जिससे भ्रातृप्रेम और मातृश्रद्धा दोनों की ही शिक्षा मिलती है।

पञ्चवटी निवास के समय हेमन्त ऋतु में प्रातः ही राम, सीता और लक्ष्मण गोदावरी में स्नान करने जा रहे थे। मार्ग की शोभा को देखकर लक्ष्मण ने हेमन्त का वर्णन करते-करते भरत की चर्चा भी कर दी।

अस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रः काले दुःखसमन्वितः।
तपश्चरति धर्मात्मा त्वद् भक्त्या भरतः पुरे॥

नर-श्रेष्ठ भरत भी इसी समय आपकी भक्ति से कष्ट सहन करते हुए अयोध्या में तप कर रहे हैं।

त्यक्त्वा राज्यं च मानंच भोगाँश्च विविधान् बहून्।
तपस्वी नियताहारः शीते शेते महीतले॥

अनेक प्रकार के राज्य-सामान और भोगों को छोड़कर भरत तपस्वी मिताहारी होकर इस शीत ऋतु में भी भूमि पर सोता है।

सोऽपि वेलामिमां नूनमभिषेकार्थमुद्यतः।
वृतः प्रकृतिभिर्नित्यं प्रयाति सरयू नदीम्।

भरत भी ठीक इसी समय अपने संगी-साथियों सहित सरयू नदी में स्नान करने जाते होंगे।

अत्यन्तसुखसंवृद्धः सुकुमारो हिमार्दितः।
कथं न्वत पररात्रेषु सरयूमवगाहते॥

बहुत ही सुख और लाड़ प्यार में पला हुआ भरत, इस कड़ाके की सर्दी में प्रातः अन्धेरे ही सरयू के ठण्डे पानी में कैसे नहाता होगा ?

जितः स्वर्गस्तव भ्राता भरतेन महात्मना।
वनस्थमपि तापस्ये यस्त्वामनु विधीयते॥

आपके भाई महात्मा भरत ने निश्चित ही स्वर्ग जीत लिया है जो घर रहते हुए भी वनवासी आपके समान ही तपोमय जीवन बिता रहा है।

भर्ता दशरथो यस्याः साधुश्च भरतः सुतः।
कथन्नु साम्बा कैकेयी तादृशी क्रूरदर्शिनी ॥

दशरथ जैसा प्रतापी जिसका पति हो और भरत जैसा पवित्रात्मा जिसका पुत्र हो वहां न जाने क्रूर स्वभाव की यह मां कैकेयी कहां से आ गयी ?

इत्येवं लक्ष्मणे वाक्यं स्नेहाद् ब्रुवति धार्मिके।
परिवादं जनन्या- स्तामसहन् राघवोऽब्रवीत्।

इस प्रकार प्रेमपूर्वक धार्मिक लक्ष्मण जब चर्चा कर रहे थे तो कैकेयी मां की उस निन्दा को सुनकर राम छट-पटा गये। और बोले—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कथंचन ।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु।

प्यारे भाई लक्ष्मण ! तुमने मझली मां की निन्दा करके यह क्या रस में विष घोल दिया। तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए। तुम तो प्यारे भाई भरत का ही गुणगान करो।

निश्चितापि हि मे बुद्धिर्वनवासे दृढव्रता।
भरतस्नेहसन्तप्ता बालिशीक्रियते पुनः ॥

यद्यपि वनवास का पूरा समय बिताने के लिए मैं दृढ़प्रतिज्ञ हूं। फिर भी भरत के प्रेम के कारण व्याकुल होकर मेरी बुद्धि विचलित हो जाती है।

कदान्वहं समेष्यामि भरतेन महात्मना।
शत्रुघ्नेन च वीरेण त्वया च रघुनन्दन ॥

वह दिन जाने कब आवेगा ? महात्मा भरत शत्रुघ्न और हम दोनों आपस में कब मिलेंगे।

वा० रा० आरण्य कांड सर्ग १६

इस लम्बे उद्धरण को मैंने जानबूझ कर इसलिए देना उचित समझा कि इससे परिवार के सौमनस्य के लिए बड़ी प्रेरणा मिलती है। कितने अनुपम आदर्श पितृ-मातृ और भ्रातृ भक्ति के उदाहरण हैं। हमारी संस्कृति की तो यही पवित्र धारा रही है। यहां पितृ देवो भव, मातृ देवो भव की शिक्षा गुरु स्नातक को घर आते समय गांठ बांध कर ले जाने के लिए देते थे। ऋग्वेद में तो इन सबसे बढ़कर माता की प्रशंसा में कहा गया है—

वस्यां इन्द्रासि मे पितुरुतभ्रातुरभुञ्जतः।
माता च मे छदयथः समा॥

भक्त कहता है ! हे प्रभो मैं आपको अपने पिता से श्रेष्ठ मानता हूं और जमीन जायदाद का हिस्सा देते समय जो इधर उधर देखता है उस भाई से भी मैं आपको उत्तम मानता हूं। किन्तु प्रभो मैं आपको माता से बड़ा स्थान देने को उद्यत नहीं हूं उसके बराबर का ही आपको मानता हूं अर्थात् माता की पुत्र की कल्याण-कामना प्रभु-प्रसाद से कम नहीं है।

हमारे यहां तो किसी पिता को यह आशंका ही नहीं हुई कि उसका पुत्र अपने पिता को अपदस्थ करके उसकी दुर्दशा करेगा। अनुचित मार्गगामी अपने पिता शन्तनु के लिए भीष्म का त्याग कितना कठोर व्रत है। अस्तु ! इस प्रसंग के अन्त में हम राजस्थान का एक अद्भुत उदाहरण और देना उचित समझते हैं जो बहुत ही भावोत्तेजक है और जिसे हुए अभी कुछ शताब्दियां ही बीती हैं।

चित्तौड़ के राजसिंहासन पर राणा लाखा विराजमान थे। इन्होंने युद्ध में दिल्ली के बादशाह लोदी को परास्त किया था। राणा लाखा के पुत्रों में चण्ड सबसे बड़े थे और गुणों में भी श्रेष्ठ थे।

जोधपुर के राठौर रणमल्लजी ने राजकुमार चंड के साथ अपनी पुत्री का विवाह करने के लिए अपने पुरोहित के हाथ नारियल चित्तौड़ भेजा। जिस समय यह पुरोहित नारियल लेकर सभा में आया, उस समय राजकुमार चंड वहां नहीं थे। ब्राह्मण ने अभिवादन के पश्चात् नारियल उपस्थित करते हुए महाराज से निवेदन किया कि यह नारियल जोधपुर नरेश रणमल ने अपनी पुत्री का विवाह आपके बड़े पुत्र चंड के साथ करने के लिए मेरे द्वारा आपकी सेवा में भेजा है। महाराणा लाखा ने अपने विनोदी स्वभाव के कारण हंसते हुए कहा कि मैं तो समझा था कि बूढ़े के लिए आप यह नारियल लाये हैं और मेरी वृद्धावस्था की खिल्ली उड़ाना चाहते हैं। राणा की यह बात सुनकर दरबार के सब लोग हंसने लगे।

जिस समय परिहास चल रहा था, राजकुमार उसी समय सभा में प्रवेश कर रहे थे और उन्होंने राणा के ये शब्द सुन लिए थे। राजकुमार के बैठने पर महाराणा ने सभा को सम्बोधित करके कहा कि जोधपुर नरेश हमारे परिवार का बहुत आदर करते हैं जो अपनी गुणवती कन्या का विवाह हमारे पुत्र राजकुमार चंड से करना चाहते हैं। आप सब इस प्रस्ताव से सहमत हों तो यह नारियल राजकुमार के हाथ पर रख दिया जावे। सारी सभा ने बड़े हर्ष के साथ इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया।

किन्तु इसी समय राजकुमार चंड अपने स्थान पर खड़े हो गये और नतमस्तक होकर कहने लगे कि "परिहास से ही सही—जिस लड़की के नारियल के लिए मेरे पिता ने अपने लिए आया कह दिया वह कन्या तो मेरी माता बन चुकी। मैं अपने पिता के गौरव को सुरक्षित रखते हुए उस कन्या के साथ विवाह नहीं कर सकता।" इस बात को सुनकर दरबार में सन्नाटा छा गया। बहुत विचित्र परिस्थिति उत्पन्न हो गई। नारियल को लौटाने में जोधपुर नरेश का और उससे भी बढ़कर उस निर्दोष कन्या का अपमान था। इधर

राजकुमार किसी अवस्था में भी सम्बन्ध स्वीकार करने को उद्यत न था। अन्त में राणा ने क्रोध में आकर कहा। यह नारियल वापस नहीं किया जा सकता। रणमल्ल का सम्मान रखने के लिए इसे मैं स्वयं स्वीकार करूंगा किन्तु एक बात समझलो। ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते इस सिंहासन के उत्तराधिकारी तुम हो। पर यह सम्बन्ध मुझे स्वीकार करना पड़ा और इससे कोई पुत्र हुआ तो चित्तौड़ के सिंहासन पर फिर वही बैठेगा। इस बात को सुनकर राजकुमार चंड उठे और "भीष्म के समान प्रतिज्ञा करते हुए कहा पिताजी मैं आपके चरणों की शपथ खाकर प्रतिज्ञा करता हूं कि मेरी नयी माता से जो पुत्र उत्पन्न होगा वही चित्तौड़ की राजगद्दी पर बैठेगा और मैं आजीवन उसकी भलाई में रहूंगा।"

अन्त में राणा लाखा को यह विवाह करना पड़ा। इस रानी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम मुकुल रखा गया। जब मुकुल ५ वर्ष का था तभी गया तीर्थ पर मुसलमानों ने आक्रमण कर दिया। गया के पण्डों ने एक प्रतिनिधि-मण्डल भेजकर महाराणा से तीर्थ-रक्षा की प्रार्थना की। महाराणा ने सेना को तैयारी का आदेश देकर राजकुमार चंड को बुलाया और कहा—बेटा मैं धर्मरक्षा के लिए जाता हूं। तेरे छोटे भाई की आजीविका का क्या प्रबन्ध होगा ? चंड ने उत्तर दिया चित्तौड़ का राज्य इसी का है और इतना कह कर राणा के न चाहते हुए भी उस बालक मुकुल का राजतिलक राणा के सामने ही कर दिया। राणा युद्ध के लिये गया गये और वहीं वीरगति को प्राप्त हो गये। चंड ने राज्य के प्रबन्ध की देख-भाल स्वयं प्रारम्भ कर दी ताकि व्यवस्था ठीक रही आवे। चंड के उत्तम राज-प्रबन्ध से प्रजा आनन्दपूर्वक रहने लगी। प्रजा में चारों ओर राजकुमार चंड के यश के गीत गाये जाते थे। प्रजा पर चंड का यह प्रभाव राजमाता को असह्य हो गया और उनके मन में आशंका होने लगी कि चंड कहीं राज्य पर अधिकार करके स्वयं गद्दी का मालिक न बन बैठे। राजमाता ने अपनी आशंका चण्ड पर प्रकट

कर दी। चण्ड को इस बात से बहुत दुःख हुआ। उन्होंने राजमाता के पास जाकर कहा। माता आपके सन्तोष के लिए मैं चित्तौड़ छोड़ता हूं, जब मेरी सेवा की आवश्यकता हो मुझे सूचना देना, मैं उपस्थित हो जाऊंगा।

चंड के वन को चले जाने पर राज्य की देखभाल और व्यवस्था के लिए राजमाता ने जोधपुर से अपने भाई को बुला लिया। कुछ समय बाद रणमल्ल भी बहुत से सेवकों के साथ चित्तौड़ आ गये। कुछ काल व्यतीत होने पर इन दोनों के मन में बेईमानी आ गयी और चित्तौड़ राज्य पर अपना स्वामित्व स्थापित करने के लिए अपने भानजे और धेवते मुकुल को समाप्त करने की योजना बनने लगी।

यह सारा षड्यन्त्र राजमाता पर भी खुल गया और वह अपने पुत्र और राज्य की रक्षा के लिए बहुत व्याकुल हुई। बहुत सोच विचार कर उसने वन में तपस्यारत चंड को यह सारा समाचार भिजवाया और अपने व्यवहार पर क्षमा मांगते हुए अपने पिता को चित्तौड़ के संरक्षण के दिये हुए वचन को निभाने के लिए अनुरोध किया। चंड इस समाचार को पाकर चित्तौड़ आये। अपने विश्वस्त सामन्त और सैनिकों के साथ मन्त्रणा करके रणमल्ल और उसके पुत्र से युद्ध किया। उस मुठभेड़ में रणमल्ल का लड़का मारा गया और रणमल्ल चित्तौड़ छोड़कर जोधपुर भाग गये। इस प्रकार चित्तौड़ को निष्कंटक करके मुकुल के समर्थ होने तक राज्य-व्यवस्था में सहयोग दिया। यह है पितृ-भक्ति का अनुपम उदाहरण। इस आदर्श चरित्र पर चंड की जितनी प्रशंसा की जावे, थोड़ी है।

तो गृहस्थ की [illegible] के लिए माता-पिता का सन्तान के प्रति और सन्तान का माता-पिता के प्रति क्या कर्त्तव्य है? इसका विचार और उन पर आचरण के लिए यह पाँचवां महायज्ञ पितृ-यज्ञ है।

इनके अतिरिक्त पारिवारिक दुनियां में भाई-बहन और रह जाते हैं, जिनके साथ का व्यवहार भी मनुष्य-जीवन को प्रभावित करता है।

इसके लिये भी वेद ने स्थान-स्थान पर शिक्षा दी है।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।

अथर्ववेद।

भाई, भाई से द्वेष न करे और बहन, बहन से द्वेष न करे। भाई के साथ भी परिवार में बहुत उदारतापूर्ण व्यवहार रहना चाहिए। मनु की व्यवस्था के अनुसार सम्पत्ति पर अधिकार तो बड़े भाई का ही होता था। किन्तु वह बड़ा भाई सारे कुटुम्ब के संरक्षण और पालन का अपना दायित्व बड़ी निष्ठा से निभाता था। हमारे इतिहास में किसी अपवाद को छोड़कर राज्याधिकारी और जायदाद के लिए भाई-भाई में मारकाट और खींचातानी आपको कहीं नहीं मिलेगी। जैसी कि सारे मुगल-इतिहास में औरंगजेब और दूसरे बादशाहों के बाप-बेटे और भाई-भाइयों में रही है। कारण वही है, जिसकी एकाधिक बार हम चर्चा कर चुके हैं कि स्वार्थ वैर और द्वेष को उत्पन्न करता है और त्याग, प्रेम और कर्त्तव्य पालन की भावना को। वैदिक संस्कृति में तो परिवार और समाज का सारा ढांचा ही यज्ञ और त्याग पर आधारित है। राम के आदर्श जीवन में यह भाव भी बहुत उच्चकोटि का था। राम ने लक्ष्मण को, जब जंगल में आते हुए भरत की सेना की धूल को देखकर उसने कुछ बड़बड़ाना प्रारम्भ किया था, उस समय एक सुसंस्कृत और सुलझा हुआ उत्तर दिया था। लक्ष्मण ने कहा—

सम्पन्नं राज्यमिच्छंस्तु व्यक्तं प्राप्याभिषेचनम्।
आवां हन्तुं समभ्येति कैकेय्या भरतः सुतः॥

हे राम यह स्पष्ट है कि अयोध्या की राजगद्दी प्राप्त करके अपने राज्य में १४ वर्ष बाद आने वाले झंझट को समाप्त करने के लिए भरत सेना-सहित हम दोनों को मारने के लिए आ रहे हैं।

गृहीतधनुषावावां गिरिं वीर श्रयावहे ।
अथवेहैव तिष्ठावः सन्नद्धावुद्यतायुधौ ॥

आइये हम भी धनुषबाण सम्भाल कर पहाड़ पर चढ़ चलें अथवा शस्त्रों को लेकर यहीं मोर्चा बनालें।

सम्प्राप्तोऽयमरिर्वीर भरतो बध्य एव हि।
भरतस्य वधे दोषन्नहि पश्यामि राघव ॥

यह आने वाला भरत शत्रु ही है। हे राम मैं भरत के मारने में कोई दोष नहीं समझता।

राम लक्ष्मण की इस बात को सुनकर तिलमिला गये और लक्ष्मण को कहने लगे।

विप्रियं कृतपूर्वन्ते भरतेन कदानु किम्।
ईदृशं वा भयन्तेऽद्य भरतं यद्विशंकसे ॥

क्या भरत ने तुम्हारा कभी कुछ बिगाड़ किया है, जिससे भरत से तुम इतने भयभीत हो रहे हो और उस पर शंका कर रहे हो।

यदि राज्यस्य हेतोस्त्वमिनां वाचं प्रभाषसे।
वक्ष्यामि भरतं दृष्ट्वा राज्यमस्मै प्रदीयताम् ॥

यदि भरत को यह सब कुछ राज्य के कारण कह रहे हो तो भरत के मिलने पर मैं उसे कहूंगा कि प्यारे भाई यह अयोध्या का राज्य लक्ष्मण को बहुत प्रिय है, तू इसे दे दे।

उच्यमानो हि भरतो मया लक्ष्मण तद्वचः ।
राज्यमस्मै प्रयच्छेति बाढमित्येव मंस्यते ॥

वा० रा० आर० सर्ग ९७

हे लक्ष्मण मेरे इस प्रस्ताव पर भरत हां ही कहेगा, न नहीं, यह मैं तुझे विश्वास दिलाता हूं।

स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः।
द्रष्टुमस्यागतो ह्येष भरतो नान्यथागतः ॥

लक्ष्मण मुझे यह प्रतीत होता है कि भरत को हम दोनों का वियोग असह्य हो गया होगा इसलिए यह प्रेम-विभोर हम दोनों को मिलने आ रहा है और किसी विचार से नहीं। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है तो लक्ष्मण मेरा निश्चय तो यह है—

यद्विना भरतं त्वाञ्च शत्रुघ्नं वापि मानद।
भवेन्मम सुखं किञ्चिद् भस्म तत् कुरुतां शिखी॥

हे लक्ष्मण! भरत, शत्रुघ्न और तुमको छोड़कर यदि मुझे कुछ सुख प्राप्त होता है तो मैं ऐसे सुख को आग लगाना पसन्द करूंगा।

यही राम का न्याय पर आधारित भाइयों के साथ उदात्त व्यवहार था, जिसका प्रभाव सभी भाइयों पर भी आशा के अनुरूप था। इतिहास में इस प्रकार के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं जहां जब प्रथम वार उन्हें राज्य देने का प्रस्ताव किया गया तो बड़ी अनिच्छा से उसे उन्होंने ग्रहण किया। किन्तु जब उसका चस्का लग गया तो हजार पाप करके भी उस सत्ता को अपने अधिकार में रखने के लिए उन्होंने पूरी शक्ति लगा दी। जैसे मुंज, वनवीर आदि किन्तु यह राम के आदर्श व्यवहार का ही प्रभाव था कि भरत के भाव में लेशमात्र भी माया और मान के प्रति आकर्षण उत्पन्न नहीं हुआ। रामायण का वह क्या ही अनुपम दृश्य है जब भरत को राम के वन से वापस आने की सूचना दी गयी।

अद्य जन्म कृतार्थं मे संवृत्तश्च मनोरथः।
यस्त्वां पश्यामि राजानमयोध्यां पुनरागतम्॥

आज मेरा जीवन सफल हो गया। आज मेरी सब कामनाएं पूर्ण हो गईं कि अयोध्या के स्वामी को अयोध्या में पुनः आया हुआ देख रहा हूं।

पादुके ते तु रामस्य गृहीत्वा भरतः स्वयम्।
चरणाभ्यां नरेन्द्रस्य योजयामास धर्मवित्॥

भरत ने राजसिंहासन पर सजी राम की दोनों खड़ाऊं उठाकर राम के पैरों में अपने आप पहना दीं और उसके बाद राज्य की ओर संकेत करते हुए कहा—

एतत्ते सकलं राज्यं न्यासं निर्वर्तितं मया ।

हे राम इस तुम्हारे सारे राज्य को मैंने १४ वर्ष तक धरोहर के रूप में सम्हाल कर रखा है।

तो इस प्रकार का उदारतापूर्ण व्यवहार भाइयों का परस्पर होना चाहिए। जिस परिवार में भाई भाई के साथ घात करता है उसका विनाश निश्चित है। वैसे तो अब सम्मिलित परिवार की प्रथा ही समाप्त हो गई है। किन्तु इसमें भी यह सावधानी बरतनी चाहिए कि बिना किसी प्रकार की खींचातानी का अवसर आये सब घरेलू वस्तुओं का विभाजन प्रेमपूर्वक करके पृथक् हो जाना चाहिए। इस प्रकार एक दूसरे के साथ प्रेम बना रहता है और घर में कलह होने पर फिर यदि बंटवारा होता है तो इससे बहुत दिनों तक खिंचाव बना रहता है।

दूसरी बात वेद ने कही थी—बहन बहन के साथ द्वेष न करे। इसका अभिप्राय एक माता की पुत्रियों का उतना नहीं है जितना कि जेठानी-देवरानियों का है। क्योंकि वे भी परस्पर बहनें ही होती हैं और विवाद का अवसर उन्हीं को अधिक होता है। अपनी निजी बहनें तो कुछ काल रह कर विवाह के बाद अपने-अपने घरों में चली जाती हैं। उनके परस्पर झगड़ने की तो स्थिति ही कहां आती है! तो इनका व्यवहार भी बहुत सौहार्दपूर्ण रहना चाहिए। प्रायः घरों में झगड़े की चिन्गारी यहीं से सुलगती है। वह झगड़े भी बहुधा बहुत छोटी-छोटी बातों पर काम-काज के ऊपर, बच्चों के कपड़ों-लत्तों आदि के ऊपर प्रारम्भ हो जाते हैं। काम की दृष्टि से तो परिवार में व्यवस्थापूर्वक काम का बंटवारा होना चाहिए और वे काम और उसकी पारियां सप्ताह अथवा महीने के हिसाब से बदलती

रहनी चाहिए । इस व्यवस्था से किसी को कम या अधिक काम करने की शिकायत ही नहीं होगी । बच्चों को भी छोटे-मोटे उत्तरदायित्व के काम देकर उन्हें प्रशिक्षित करना चाहिए तथा काम को ठीक करने पर उन्हें पुरस्कार देना चाहिये इससे उनका उत्साह भी बढ़ेगा और कुशलता भी आवेगी । ननद भावज का भी सम्बन्ध दो सगी बहनों के समान स्नेहपूर्ण होना चाहिये । बहन और भाई का सात्विक प्रेम तब तक रूखा-सूखा ही रहेगा जब तक भावज उसमें सहयोग न दे । सोचिये वह आपकी सगी बहन तो नहीं पर आपके पति की सगी बहन है । वह वही बहन है जिसको विवाह के अवसर पर भाई ने खीलों से हाथ भरते हुए कहा था—बहन ! विवाह के बाद जब-जब तुम आकर मेरे घर को पवित्र किया करोगी तब तब मैं अपनी शक्ति के अनुसार तुम्हारे दोनों हाथ भर तुम्हें विदा किया करूंगा और कभी खाली हाथ नहीं भेजूंगा । भाई का यह पवित्र व्रत तब तक ठीक नहीं निभ सकता जब तक कि पत्नी उसमें प्रेमपूर्वक साथ न दे । इसलिये गृहस्थ में इस सम्बन्ध को भी निष्ठापूर्वक निभाना चाहिये ।

अब परिवार के सभी समीपी सम्बन्धों की चर्चा लगभग हो चुकी । किन्तु यह चर्चा अधूरी ही रह जायेगी यदि इसमें मित्रों के परस्पर व्यवहार की चर्चा और सम्मिलित न की जावे । क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । समाज के सहयोग के बिना उसका कोई काम नहीं चल सकता । फिर उस समुदाय में कुछ व्यक्ति ऐसे भी मिलते हैं जिनके विचार तथा चित्तवृत्तियां मिलती हैं और इसी कारण सुख-दुःख के अवसर पर एक-दूसरे के काम आते रहते हैं—बस इसी सम्बन्ध का नाम व्यावहारिक क्षेत्र में मित्रता है । मित्र शब्द का अर्थ है, जो स्नेह, सम्पर्क में आने वाले का त्राण करदे, उद्धार करदे उसे मित्र कहते हैं । इस मित्र शब्द के धातुगत अर्थ से ही यह सिद्ध है कि यह सम्बन्ध भी कितने उच्च और पवित्र धरातल पर स्थापित होने चाहियें । एक सफल मनुष्य की जहां यह कसौटी है

कि उसके अधिक से अधिक मित्र होने चाहियें। वहाँ साथ ही मित्रों के भी कुछ कर्त्तव्यों का वर्णन शास्त्रों में किया है और उन सम्बन्धों को निष्ठापूर्वक निभाने का भी आदेश दिया है। उन पवित्र सम्बन्धों का तोड़ना बहुत बड़े पाप की बात मानी गई है। एक नीतिकार ने लिखा है—

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यश्च विश्वासघातकः।
त्रयस्ते नरकं यान्ति यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥

मित्र से घात करने वाला, किसी के उपकार को स्वीकार न करने वाला और किसी को विश्वास देकर तोड़ने वाला ये तीनों जब तक यह सृष्टि की व्यवस्था रहेगी, अवश्य नरक को जावेंगे।

मित्रों के परस्पर कर्तव्यों का वर्णन श्री भर्तृहरि ने इस प्रकार किया है—

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यं च गूहति गुणान् प्रकटीकरोति।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्र-लक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥

मित्र को पाप से हटाकर हितकर कार्य में लगावें। मित्र की छिपाने योग्य बातों को छिपावें और गुणों को प्रकट करें। आपत्ति में फंसे हुए मित्र की कभी उपेक्षा न करें और उसे आर्थिक अथवा जैसी भी सहायता की आवश्यकता हो अवश्य दें। सन्तों ने यह अच्छे मित्रों की पहचान बताई है।

इस मित्रता के सम्बन्ध में स्थायित्व तभी आता है जब आयु, कुल और अर्थ की समानता हो। विपरीत अवस्था में वह घनिष्ठता नहीं आ पाती। वैसे अपवाद को छोड़कर यह ठीक ही है। कल्पना कीजिए एक करोड़पति की एक सामान्य व्यक्ति से मित्रता है उस धनी व्यक्ति के कारोबार में कुछ घटा-बढ़ी हुई और उसे तुरन्त

कुछ लाख रुपए की आवश्यकता उस स्थिति को सम्भालने के लिए अपेक्षित हुई। इस स्थिति में एक निर्धन क्या कर सकता है? सिवा इसके कि वह सहानुभूति के दो शब्द कह दे। इसलिए संस्कृत की यह कहावत सर्वथा उपयुक्त है कि—

"गजानां पंकमग्नानां गजा एव धुरंधरा:"

दलदल में फंसे हाथी को निकालने के लिए हाथी की ही आवश्यकता है, अत: मित्रता स्थापित करते समय इस व्यावहारिक पक्ष को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। इस लोकस्थिति को अधिक समझने के लिए महाभारत से द्रुपद और द्रोण की मित्रता के परिणाम से लाभ उठाना चाहिए।

द्रुपद और द्रोण दोनों गुरुकुल में सहपाठी थे। दोनों ही महर्षि अग्निवेश के आश्रम में रहते हुए धनुर्वेद का अध्ययन करते थे। बाल्यकाल से ही साथ-साथ रहते और पढ़ते हुए परस्पर घनिष्ट मित्र हो गये थे। एक दिन द्रुपद ने प्रेमातिरेक से भावविभोर होकर द्रोण से कहा—

अभिषेक्ष्यति मां राज्ये स पाञ्चाल्यो यदा तदा।
त्वद्भोग्यं भविता तात सखे सत्येन ते शपे॥

प्यारे द्रोण मेरे बड़े होने पर पिताजी जब पंचाल देश का राज्य मुझे दे देंगे तब मेरा सारा राज्य तेरे भोग के लिये अर्पित रहेगा। यह मैं शपथपूर्वक कहता हूं।

द्रोण इस बात को सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। समय आने पर शिक्षा पाकर द्रुपद चला गया। द्रोण भी स्नातक हो गये और अपने पिता की अनुमति से कृपाचार्य की बहन गौतमी से विवाह कर लिया। कुछ समय बाद गौतमी के पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम अश्वत्थामा रखा गया।

द्रोण की गृहस्थी में सांसारिक सुख-सुविधाओं का सर्वथा अभाव था। यहाँ तक कि पड़ौस के बालकों को अश्वत्थामा दूध पीते हुए देखकर दूध के लिए मचलता था तो बेचारी गौतमी आटा घोलकर पानी सफेद करके दूध के नाम से पिला देती थी। इस सफेद पानी से अश्वत्थामा तो बहल जाता था किन्तु इस दरिद्रता की उसके साथी खिल्ली उड़ाते थे। द्रोण के लिए यह स्थिति असह्य हो गयी और उसे ध्यान आया कि मेरा बालसखा द्रुपद अब पंचाल देश का राजा है। उसके पास चला जावे तो सब कामनाएं पूरी हो सकती हैं।

प्रियं सखायं सुप्रीतो राज्यास्थं समुपागमम्।
संस्मरन् संगमं चैव वचनं चैव तस्य तत्॥

मैं द्रुपद की पुरानी बातों को याद करता हुआ उसकी राजधानी में गया।

ततो द्रुपदमागम्य सखिपूर्वमहं प्रभो।
अब्रुवे पुरुषव्याघ्र सखायं विद्धि मामिति।
उपस्थितस्तु द्रुपदं सखिवच्चास्मि संगतः॥

मैं द्रुपद के पास पहुंचकर प्रेम विभोर होकर बोला— मैं तुम्हारा पुराना मित्र तुम्हें मिलने आया हूं और यह कहकर एक मित्र के समान उससे मिला।

स मां निराकारमिव प्रहसन्निदमब्रवीत्।
अकृतेयं तव प्रजा ब्रह्मन्नाति समञ्जसा॥

द्रुपद को यह मेरा मिलना अच्छा नहीं लगा और वह मेरा अपमानसा करता हुआ हंसके बोला। हे ब्राह्मण! यह आचरण तुम्हारा कोई बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है।

मित्रता बराबरी में होती है विषमता में नहीं।

नहि राज्ञामुदीर्णानामेवं भूतैर्नरैः क्वचित् ।
सख्यं भवति मन्दात्मन् श्रियाहीनैर्धनच्युतैः ॥

उन्नत और सम्पन्न राजाओं की मित्रता दरिद्रों से कभी नहीं होती ।

न राजा पार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते ।

एक राजा की मित्रता एक राजा से ही होती है । मित्रता के लिए भी कुछ मापदण्ड निश्चित होते हैं ।

आप आये हैं, एक रात मेरे यहां ठहर सकते हैं, आपके भोजनादि की व्यवस्था कर दी जायेगी ।

यह सुनकर द्रोण इस अपमान का बदला लेने की प्रतिज्ञा अपने मन में करके पत्नीसहित बैरंग वापिस लौटे । किन्तु अब की वार अपने निवास-स्थान पर न जाकर अपनी पत्नी के भाई कृपाचार्य के पास धृतराष्ट्र की राजधानी हस्तिनापुर में ठहर गये । यहां द्रोण का यह निवास सर्वथा गुप्त था ।

एक दिन सायंकाल युधिष्ठिरादि राजकुमार गिल्ली खेलते हुए नगर से बाहर निकल गये और इनकी गिल्ली एक सूखे कुँए में गिर गई । बालकों ने गिल्ली निकालने का बहुत यत्न किया । किन्तु सब प्रयत्न निष्फल रहे ।

इधर द्रोणाचार्य भी अपने दैनिक अग्निहोत्रादि से निवृत्त होने के लिए उस कुँए के पास गये हुये थे । इन राजकुमारों की दृष्टि ब्राह्मण पर पड़ी और वे इनसे गिल्ली निकालने के लिए अनुरोध करने लगे । द्रोण ने बालकों की हंसी उड़ाते हुए कहा तुम्हारे यह तीर कमान और तुम्हारा यह क्षात्रबल किस काम का कि कुँए से गिल्ली भी नहीं निकाल पा रहे हो । तुम लोग मेरे खाने-पीने की व्यवस्था कर दो तो मैं अभी तुम्हारी गिल्ली निकाल देता हूं !

यह सुनकर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि यदि कृपाचार्य आपके इस प्रस्ताव से सहमत हो जावें तो हम आपके निर्वाह का स्थायी प्रबन्ध करने को उद्यत हैं।

द्रोण ने तीर से गिल्ली को वेध दिया और उसके बाद उस गड़े हुए तीर की पूंछ में दूसरा तीर फंसा दिया इसी प्रकार तीरों की ऊपर तक एक रस्सी सी बनाकर गिल्ली निकालकर राजकुमारों को दे दी।

राजकुमार इस कौशल से चकित हो गये और कहा कि यह अद्भुत कार्य कोई और नहीं कर सकता। आप अपना परिचय दीजिये कि आप कौन हैं! ब्राह्मण ने हंसकर कहा, यह सब कुछ जो मैंने किया है वह अपने दादा भीष्म को सुना देना। वे इतने से ही जान जावेंगे कि मैं कौन हूं?

राजकुमार नगर में आये और दादा भीष्म को सब समाचार सुना दिया। भीष्म ने सुनते ही कहा वे द्रोण होंगे। तुम लोगों के लिये वे ही उपयुक्त गुरु हो सकते हैं। भीष्म द्रोण को लिवालाने के लिये स्वयं गये। लाकर उनका पूरा आदर-सत्कार किया और आने का कारण पूछा। द्रोण ने अपनी सब कथा-कहानी कह सुनायी।

भीष्म ने कहा कि आप यहां आनन्दपूर्वक रहिये! यह राज्य आपका ही है। यह हमारा सौभाग्य है कि आप यहां हमें कृतार्थ करने के लिये स्वयं पधारे हैं।

द्रोण सुख और सम्मानपूर्वक वहां रहने लगे। उनके निवास के लिए सब सामग्रियों से युक्त एक भवन नियत कर दिया गया और सब राजकुमारों को शिष्यों के रूप में उन्हें सौंप दिया गया। द्रोण ने राजकुमारों को कहा कि मैं आप लोगों को सब विद्याओं में निपुण कर दूंगा किन्तु आप लोगों को भी मेरी इच्छा पूर्ण करने का वचन देना होगा। इसको सुनकर कौरव तो चुप रहे पर अर्जुन ने गुरु जी की इच्छा-पूर्ति की प्रतिज्ञा की।

अर्जुन की इस बात को सुनकर गुरु जी ने उसे हृदय से लगा लिया और अनेकशः आशीर्वाद दिये।

गुरु जी ने सब राजकुमारों को समस्त शस्त्र-विद्याओं में पारंगत कर दिया। अनेक प्रकार से लक्ष्यभेदन करा के परीक्षा ली।

विद्या समाप्त होने पर गुरु-दक्षिणा की बारी आई तो द्रोण ने शिष्यों को कहा।

पञ्चालराजं द्रुपदं गृहीत्वा रणमूर्धनि।
पर्यानयत भद्रं वः सा स्यात् परम दक्षिणा॥

पंचाल देश के राजा द्रुपद को युद्ध में जीवित पकड़ कर मेरे अर्पण करो। यही मेरी दक्षिणा है। इस आदेश को सुनकर कौरव और पांडवों ने द्रुपद पर सम्मिलित आक्रमण किया। राजा द्रुपद भी वीरता से लड़ा। किन्तु अर्जुन ने अपने पराक्रम से उसे परास्त कर दिया और जीवित पकड़ लिया।

द्रुपद को मन्त्रियों के साथ पकड़कर जब गुरु जी के सामने पेश किया तो द्रोण ने कहा—

विमृद्य तरसा राष्ट्रं पुरं ते मृदितं मया।
प्राप्य जीवं रिपुवशं सखिपूर्वं किमिष्यते॥

द्रुपद! मैंने बलपूर्वक तेरे राष्ट्र और नगर को पीस डाला है। अब तुम अपने जीवन को शत्रु के वश में समझो और सोचो कि मित्रता से पूर्व कुछ और भी अपेक्षित होता है।

एवमुक्त्वा प्रहस्यैवं किंचित् स पुनरब्रवीत्।
मा भैः प्राणभयाद्वीर क्षमिणो ब्राह्मणा वयम्॥

इतना कहकर और फिर हंसकर द्रोण बोले। हे वीर! तुम मृत्यु से मत डरो। क्योंकि हम क्षमाशील ब्राह्मण हैं।

आश्रमे क्रीडितं यत्तु त्वया बाल्ये मया सह।
तेन संवर्धितः स्नेहः प्रीतिश्च क्षत्रियर्षभ॥

द्रुपद हम और तुम बालकपन में आश्रम में इकट्ठे खेले हैं। इस कारण तुम से प्रेम भी बहुत हो गया।

प्रार्थयेयं त्वया सख्यं पुनरेव जनाधिप।
ददामि ते राजन् राज्यस्यार्धमवाप्नुहि ॥

राजन्! मैं तुमसे मित्रता की फिर भी प्रार्थना करता हूं और इसीलिए तुम्हें कह देता हूं कि तुम मेरे जीते हुए राज्य में से आधा ले लो।

अराजा किल नो राज्ञः सखा भवितुमर्हसि।
अतः प्रयतितं राज्ये यज्ञसेन मया तव ॥

हे द्रुपद! तुम राजा के साथ ही मित्रता करना पसन्द करते हो इसलिये तुम्हारी मित्रता के लिये मैंने भी राज्य प्राप्त करने का यत्न किया। इस प्रकार पंचाल देश दो भागों में विभक्त कर दिया। गंगा से दक्षिण में द्रुपद का अधिकार रहा और उत्तर में द्रोण का।

इस ऐतिहासिक उदाहरण से हम इस परिणाम पर पहुंचे कि मित्रता में घनिष्टता और स्थायित्व समानता में ही होता है।

मित्रता के उच्चादर्शों के लिये भी हम अपने महापुरुषों से प्रेरणा ले सकते हैं। रामायण में भगवान् राम के दो मित्रों सुग्रीव और विभीषण के साथ उनका क्या व्यवहार था यह उल्लेख मिलता है! यद्यपि अपने-अपने कष्टों को एक-दूसरे के सहयोग से मिटाने के लिये ही ये लोग आपस में मिले थे। किन्तु अपना ही स्वार्थ सिद्ध हो, दूसरे का बने या न बने-- यह बात सर्वथा ही नहीं थी। सुग्रीव के ऊपर तो यह सन्देह हुआ भी था कि वालि के मरने पर किष्किन्धा का निष्कंटक राज्य उसे मिल गया है। अतः सीता को खोजने के लिये जो प्रयत्न करने चाहियें थे, उनकी ओर उसका ध्यान ही नहीं है। राम ने इस कर्तव्य की ओर सुग्रीव का ध्यान आकृष्ट करने के लिये तथा उसे डांटने-डपटने के लिये लक्ष्मण को भेजा। लक्ष्मण तो ऐसे अवसरों के लिये उधार खाये रहते थे।

उन्होंने पहुंचते ही सुग्रीव से कहलवाया :—

न सः संकुचितः पन्था येन बालिः पुरा गतः ।

जिस मार्ग से हमने बालि को भेजा है, वह मार्ग अभी बन्द नहीं हुआ है। सुग्रीव ने लक्ष्मण के क्रोध का समाचार पाते ही उसे शान्त करने के लिये पहले अपनी पत्नी को भेजा और फिर स्वयं उपस्थित होकर विलम्ब के लिये क्षमा मांगी तथा इसके पश्चात् सीता की खोज का कार्य पूरी तरह से प्रारम्भ कर दिया। किन्तु राम का जीवन तो इतना स्पष्ट और आदर्श था कि वहां तो आशंका की गुंजायश ही नहीं थी। मित्रता के उच्चस्तर की जानकारी के लिये वाल्मीकि रामायण से ऐसा प्रसंग उद्धृत करता हूं जो अप्रसिद्ध है और जिसको बहुत ही कम जानते हैं।

समुद्र पार करके राम और वानर सेना जब लंका के पास पहुंच गये तो मोर्चाबन्दी के लिये उपयुक्त स्थान की खोज में सुग्रीव सुबेल नाम के पर्वत पर चढ़ गया। उस पर्वत शिखर से रावण लंका में घूमता-फिरता दिखलायी दिया। रावण को देखकर सुग्रीव अपने आपको सम्भाल न सका और छलांग लगाकर लंका में कूद पड़ा। वहां कुछ देर अपना पराक्रम दिखाकर वापस आ गया। सुग्रीव के वापस आने पर राम ने कहा—

असम्मन्त्र्य मया सार्धं यदिदं साहसं कृतम् ।
एवं साहसकर्माणि न कुर्वन्ति जनेश्वराः ।।

प्यारे सुग्रीव मेरे साथ विना परामर्श किये तुमने यह जो साहसिक कार्य किया—इस प्रकार का साहस राजा लोगों को नहीं करना चाहिये।

इदानीं मा कृथा वीर एवं विधमचिन्तितम् ।
त्वयिकिञ्चित् समापन्ने किं कार्यं सीतया मम ।।

हे वीर अब कभी विना विचारे इस प्रकार के काम मत करना।

यदि तुम्हें कुछ हो जाता तो मुझे फिर सीता को प्राप्त करने से क्या मतलब था ?

भरतेन महाबाहो लक्ष्मणेन यवीयसा ।
शत्रुघ्नेन च शत्रुघ्न स्वशरीरेण वा पुनः ।।

महाबाहु भरत, लक्ष्मण, छोटे भाई शत्रुघ्न और यहां तक कि अपने शरीर से भी मुझे तब क्या प्रयोजन रहता !

त्वयि चानागते पूर्वमिति मे निश्चिता मतिः ।
जानतश्चापि ते वीर्यं महेन्द्र वरुणोपमम् ।।

इन्द्र और वरुण के समान तुम्हारे पराक्रम और सामर्थ्य को जानते हुए भी जब तक तुम लौटकर नहीं आए तो मैंने यह निश्चय कर लिया था कि—

हत्वाहं रावणं संख्ये सपुत्रबलवाहनम् ।
अभिषिच्य च लंकायां विभीषणमथापि च ।।
भरते राज्यमावेश्य त्यक्ष्ये देहं महाबल ।।

युद्ध में रावण का परिवार और सेना सहित मार कर विभीषण को लंका में राजतिलक करके और अयोध्या का राज्य भरत को सौंप कर मैं अपना शरीर त्याग दूंगा।

अब आप देख लीजिए यहां राम के सुग्रीव के प्रति कितने ममतापूर्ण भाव हैं ? क्या ऐसे मित्र के लिये एक मित्र सर्वस्व निछावर नहीं कर देगा ?

राम की यही स्थिति बिभीषण के प्रति भी थी। जिससे पता चलता है कि यह उनका नैसर्गिक व्यवहार था। उसमें कभी किसी प्रकार की बनावट नहीं थी। जब लक्ष्मण शक्ति के प्रहार से मूर्छित हो गए तब भी राम ने विलाप करते हुए कहा—"यन्मया न कृतो राजा लंकायां बिभीषणः।" हे लक्ष्मण तेरे न रहने से सबसे बड़ी हानि यह हुई कि मैं अपने वचन के अनुसार लंका में बिभीषण का

राजतिलक नहीं कर पाया। इसी प्रकार रावण के मरने पर जब विभीषण दुःखी हुए तब भी राम ने बहुत ही आत्मीयता से कहा—

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारः ममैषाप्यं यथा तव॥

प्रिय विभीषण शत्रुता तो जीवन तक ही रहती है। जीवन के समाप्त होने के साथ शत्रुता भी समाप्त हो जाती है। अब यह रावण जैसे तुम्हारा भाई था उसी प्रकार मेरा भी भाई है। आओ अब मिलकर इसका अन्तिम संस्कार करें।

भगवान् राम के इन उच्च व्यवहारों से हमें यह शिक्षा मिलती है कि प्रत्येक क्षेत्र में उदारतापूर्ण प्रेम-मय व्यवहार से ही हम संसार की आशंका और भय के वातावरण से मुक्त करके शान्ति और विश्वास का स्थान बना सकने है। संसार की यात्रा बन्धु और मित्रों के सहारे पर ही चलती है। जिस व्यक्ति के आचरण की छाप बन्धु और मित्रों पर ऊंचे आदर्श की है, निश्चित ही उसका जीवन सुखी और शान्त, भय तथा शंकाओं से रहित होगा।

अब इस पुस्तक के अन्त में हम मातृभूमि और राष्ट्र के प्रति एक गृहस्थ का क्या कर्तव्य है यह थोड़ा सा विवेचन करके अपनी लेखनी को विश्राम देंगे। क्योंकि हमारे समस्त व्यवहारों का आधार-भूत धरातल तो हमारा राष्ट्र है। यदि राष्ट्र ही शान्त, सुखी और व्यवस्थित नहीं है तो फिर आपका गृहस्थ भी कैसे सुखी और शान्त रह सकता है। अतः वेद में प्रत्येक नागरिक को मातृभूमि के प्रति कुछ कर्तव्यों के पालन का उपदेश है। शान्त और सुखी जीवन के लिए उन कर्तव्यों पर आचरण भी आवश्यक है। राष्ट्र क्या है? एक प्रकार से वह हमारा विशाल परिवार है। हमारे इस छोटे परिवार की इकाई कुटुम्ब का एक व्यक्ति, चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष, उसी प्रकार से एक विशाल राष्ट्र परिवार की इकाई एक कुटुम्ब है। एक कुटुम्ब को सुखी और शान्त रखने के लिये हम जिन कर्तव्यों का परस्पर पालन करते हैं, उन्हीं ऊंचे उदारतापूर्ण कर्तव्यों

का पालन कौटुम्बिककत्व में राष्ट्र के प्रति हमें करना चाहिये। राष्ट्र की रक्षा और स्वाधीनता के लिए सर्वस्व होमने के लिये तैयार रहना चाहिये।

आजकल युवकों में एक भ्रान्त धारणा है कि राष्ट्र-प्रेम और मातृभूमि की भक्ति हमने पश्चिम के देशों से सीखी है। यह सर्वथा गलत है। वेद से लेकर स्मृतियों तक में मातृभूमि की भक्ति के उपदेश भरे हुए पड़े हैं। अथर्ववेद के १२ वें काण्ड का पृथिवी सूक्त उच्चकोटि के राष्ट्रप्रेम का उपदेश करता है। इसी सूक्त में कहा गया है। "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" पृथिवी मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूं। "वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम्" हम तेरे ऊपर बलिदान को सदा उद्यत हैं। इसी सूक्त के अन्तिम मन्त्र में कहा है—

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्॥

हे मातृभूमि! मुझे तू सब प्रकार के कल्याणों से प्रतिष्ठित कर। हे काव्यमयी माता तू मुझे दिव्य सम्पत्ति और ऐश्वर्य से युक्त होकर सम्मान रहने का अवसर दे।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि वेद से बढ़कर राष्ट्र प्रेम की शिक्षा अन्यत्र नहीं मिलेगी। माता और पुत्र से बढ़कर घनिष्ट और सम्मानित पवित्र सम्बन्ध और क्या हो सकता है। वही माता और पुत्र का सम्बन्ध हमारी मातृभूमि से हमारा है। उपलब्ध प्राचीन इतिहास रामायण में भी बहुत उच्चकोटि का मातृभूमि-प्रेम विद्यमान है। राम जब १४ वर्ष के बनवास से वापस आए तो सरयू के तट से अयोध्या को देखकर कहने लगे—

सर्वेषां शुभकार्याणां स्वर्गप्राप्तिः फलं मतम्।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥

सब पुण्य कर्मों का फल स्वर्ग प्राप्त करना माना गया है। किन्तु माता और मातृभूमि ये दोनों स्वर्ग से भी श्रेष्ठ हैं।

राजस्थान के इतिहास की एक थोड़े समय पहले की घटना है जिससे यह सिद्ध होता है कि मातृभूमि के गौरव की रक्षा के लिए यहां के वीर किस प्रकार बड़े से बड़ा त्याग करने को उद्यत हो जाते थे। इस घटना के ऊपर कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी पहली रचना "रग में भंग" नाम से लिखी थी, घटना इस प्रकार है—

बूंदी राज्य में राजा वरसिंह राज्य करते थे। उनके छोटे भाई लालसिंह गैनोली में रहते थे। लालसिंह के एक सुशील कन्या थी। पुत्री जब विवाह-योग्य हुई तो राजा ने चित्तौड़ के राणा खेतल से अपनी लड़की का सम्बन्ध निश्चित किया। लड़की की लग्न लेकर जब बूंदी के पुरोहित जी चित्तौड़ के दरबार में गए तभी वहां एक विचित्र मूर्ति मिली। मूर्ति के चार हाथ थे। एक हाथ ऊपर आकाश की ओर उठा हुआ था। एक हाथ नीचे की तरफ संकेत कर रहा था। एक हाथ सामने की ओर था और चौथा हाथ मूर्ति की गर्दन पर रखा हुआ था। इन हाथों को देखकर प्रश्न उपस्थित हुआ कि इन भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर संकेत करते हुए हाथों का अभिप्राय क्या है? बहुत देर की माथापच्ची के बाद भी जब कोई युक्तिसंगत बात न बनी तो दरबार के राजकवि थे—"बारूजो"। लोगों ने फिर उनसे पूछा तो कवि जी ने अपनी प्रतिभा का परिचय देते हुए इस प्रकार संगति लगाई। कविवर मैथिलीशरण के शब्दों में—

एक ऊंचा एक नीचा एक कर सम्मुख किये।
एक ग्रीवा पर धरे यह कह रही शोभा लिये॥
स्वर्ग में पाताल में नृप आपसा दानी नहीं।
शीश मैं अपना कटाऊं जो मिले कोई कहीं॥

ऊपर के हाथ का अभिप्राय है कि स्वर्ग में राणा जैसा दानी नहीं। नीचे के हाथ से पाताल की ओर संकेत करके वही बात कही जा रही है कि वहां भी राणा की समता का उदार नहीं है। सामने का हाथ इस धरातल की ओर संकेत करके कहता है कि इस लोक में भी राणा के तुल्य कोई नहीं है और चौथा हाथ गर्दन पर रखे

जाने का अभिप्राय है कि स्वर्ग-पाताल और पृथिवी पर अर्थात् तीनों लोकों में राणा जैसा दानी कहीं मिल जावे तो मैं शीश कटाने को उद्यत हूं। हाथों की इस संगति को सुनकर सारी सभा में बाह-बाह होने लगी। किन्तु कन्ता की लग्न लेकर बूंदी से आने वालों पर इसकी उलटी ही प्रतिक्रिया हुई। ये लोग सम्बन्ध निश्चित करके चुपचाप लौट गए। बूंदी पहुंचने पर महाराज बरसिंह ने सारा समाचार पूछा, पुरोहित जी ने सम्बन्ध निश्चय की बात सुनाते हुए कहा कि महाराज सम्बन्ध तो हम कर आये किन्तु वहां हमारा अपमान बहुत हुआ। पूछा कैसे ? तो पुरोहित ने कहा कि हमारे सामने दरबार में एक चार हाथ वाली मूर्ति—जिसका एक हाथ आकाश की ओर खड़ा था, दूसरा नीचे की ओर, तीसरा सामने की ओर तथा चौथा गरदन पर रखा हुआ था, लाई गई। मूर्ति लाने वाले ने प्रश्न किया कि कोई बतावे कि मूर्ति अपने चारों हाथों से क्या भाव प्रकट कर रही है ? इस प्रश्न को सुनकर जब कोई सदस्य नहीं बोला तो फिर राजकवि बारूजी से पूछा गया। बारूजी ने हाथों की संगति लगाते हुए कहा कि मूर्ति के तीन हाथ यह बता रहे हैं कि तीनों लोकों में राणा जैसा दानी नहीं है। यदि कहीं मिल जावे तो मेरा सीस काट लेना। तो महाराज हमें स्वर्ग और पाताल से तो कुछ मतलब नहीं है। किन्तु इस संसार में तो महाराज बूंदी भी रहते हैं। तो क्या हमारे महाराज राणा से कम दानी हैं। पुरोहित की इस बात का प्रभाव राजा के मस्तिष्क पर भी बुरा हुआ और कहा, अच्छा ठीक समय पर इसका बदला लिया जावेगा।

निश्चित तिथि पर चित्तौड़ से बरात आई, विवाह संस्कार हुआ और विवाह के दूसरे दिन मध्यान्ह के समय न्योंतनी के लिए कन्या पक्ष के लोग पूरी तैयारी से अपने पुरोहित और कवियों के साथ जनवासे में गए। न्योंतनी नाम की यह रीति भारत के बहुतसे प्रांतों में प्रचलित है। इसमें दोनों ओर की वंशावलियों का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया जाता है और कवि लोग इसकी पूरी तैयारी करते हैं।

न्योंतनी के लिए जब दरबार लगा तो बारूजी ने सूर्य से लेकर बापा रावल तक महाराणा के वंश का परिचय ओजोमय वीर रस के पदों में दिया। जब चारों ओर से धन्य-धन्य की ध्वनि गूंजने लगी तो महाराजा बूंदी खड़े हुए और बोले—

वह राजा और राज्य धन्य है जिसमें आप जैसे रससिद्ध कवि निवास करते हैं। किन्तु एक विद्वान् कवि का इससे अधिक पतन भी नहीं हो सकता कि वह अपने तुच्छ स्वार्थ की पूर्ति के लिए अपने आश्रयदाता की निराधार प्रशंसा में अपनी वाणी का तेज नष्ट करता रहे। महाराज बूंदो की यह बात सभी को बहुत बेतुकी लगी। किन्तु बारूजी को तो असह्य हो गई। बारूजी ने महाराज से पूछा—मैंने कौन सी महाराणा की निराधार प्रशंसा की है जिस पर आप यह आक्षेप करते हैं। महाराज ने कहा आज तो नहीं, किन्तु जिस दिन चित्तौड़ में हमारी पुत्री की लग्न लेकर हमारे व्यक्ति वहां गए थे, उन्होंने बताया कि उसी समय चार हाथ वाली मूर्ति का दरबार में संकेत करते हुए हाथों का क्या अभिप्राय है। इस पर आपने संगति लगाते हुए कहा कि मूर्ति के तीन हाथ यह बता रहे हैं कि स्वर्ग, पाताल और भूतल में राणा जैसा दानी कोई दूसरा नहीं है। यदि कहीं कोई मिल जावे तो चौथे हाथ से मूर्ति यह कह रही है कि मेरी गरदन कटवा लेना। महाराज ने कवि से प्रश्न करते हुए पूछा क्या यह अनुचित प्रशंसा नहीं है। सुनिये कवि जी! दान की पराकाष्ठा प्राण-दान में है। प्राणों से बढ़कर कोई वस्तु राणा भी नहीं दे सकते और वही प्राण मैं भी दे सकता हूं। अभी मांगकर देख लीजिए मैं अभी अपना सर काटकर आपको दे दूंगा। बताइए मैं अब राणा की बराबरी का हो गया अथवा नहीं ? आगे राजा ने कहा वह मूर्ति तो पत्थर की थी—बेचारी क्या सर कटवाती किन्तु तुम यदि सच्चे ब्राह्मण हो तो अपना सर कटवालो। बारूजी इस अपमान को सहन न कर सके और अपनी कमर से तलवार खींचकर अपने हाथ से अपना सर काटकर पृथ्वी पर फेंक दिया।

इस दृश्य को देखकर वर सहित सारी बरात ने तलवारें म्यान से खींच ली और चिल्लाने लगे यह हमारा अपमान है। हम इसका बदला अवश्य लेंगे। महाराज बूंदी ने बरात को शान्त करना चाहा किन्तु कुछ न बना। घरात और बरात में युद्ध हुआ और वर सहित सारी बरात युद्ध में समाप्त हो गई। वह बेचारी लड़की कल रात जिसका विवाह हुआ था अपने पति की लाश के साथ सती हो गई।

अब आगे इस दुर्घटना का समाचार चित्तौड़ पहुचा। सारे राज्य में हाहाकार मच गया। राजगद्दी पर "लाखा" का तिलक किया गया। राणा लाखा ने गद्दी पर बैठते ही यह प्रतिज्ञा की कि 'जब तक मैं बूंदी के किले की ईंट से ईंट न बजा दूंगा तब तक अन्न ग्रहण न करूंगा।

इस घोषणा को सुनकर मन्त्री और सरदार लोग बहुत चिंतित और दुःखी हुए। क्योंकि चित्तौड से बूंदी का तीन दिन का तो मार्ग ही था। यदि तत्काल भी युद्ध के लिए प्रस्थान कर दें तो निराहार तीन दिन चलकर किसमें लड़ने की शक्ति शेष रह जायेगी। फिर राणा जब भोजन नहीं ग्रहण करेंगे तो सेना कैसे अन्न ग्रहण करेगी? अन्त में मन्त्रियों को यह उपाय सूझा कि बूंदी का एक नकली किला चित्तौड़ के मैदान में बनाकर राणा की प्रतिज्ञा-पूर्ति के लिए तुड़वा दिया जावे और फिर तैयारी करके बूंदी पर आक्रमण किया जावे। इस बात पर समझा-बुझा के राणा को भी सहमत कर लिया।

बूंदी का एक कृत्रिम दुर्ग चित्तौड़ के मैदान में बनवा दिया गया और राणा सेना सहित उसे तोड़ने के लिए चले।

इधर राणा की सेना में बूंदी का क्षत्रिय जिसका नाम कुंभा था, सैनिक था। वह कई दिन से शिकार के लिए बाहर गया हुआ था। उसने वापस आते हुए चित्तौड़ के मैदान में अपनी मातृभूमि बूंदीका दुर्ग बना हुआ देखा तो बहुत प्रसन्न हुआ और अनुमान लगाया कि बूंदी से जो राजकुमारी चित्तौड़ आयी होगी, उसके मनोरंजन के

लिये यह दुर्ग बनाया गया है। चलो अच्छा है, मुझे भी अपने जन्म-स्थान के नित्य दर्शन होते रहेंगे। इस कृत्रिम दुर्ग की परिक्रमा करके कुम्भा ज्योंही आगे बढ़ा तो देखा बाजे-गाजे के साथ सेना आ रही है—जैसे कहीं आक्रमण की तैयारी हो। कुम्भा को यह देखकर आश्चर्य हुआ। यह आक्रमण किस पर है? मैं भी यहां का एक सैनिक हूं। इसकी सूचना मुझे क्यों नहीं है ? कुम्भा ने आगे बढ़कर एक सैनिक से सारी बात पूछी और सारी जानकारी लेते ही क्रोध से उसका चेहरा तमतमा उठा और राणा के सामने जाकर बोला—महाराणा यदि इसी प्रकार नकली किला तोड़कर प्रतिज्ञा पूरी करनी थी तो फिर इस दिखावे की भी क्या आवश्यकता थी ? मन में ही बूंदी का किला बना लिया होता और मन में ही तोड़ लिया होता ? आपको इस तमाशे पर लज्जित होना चाहिए। फिर आप क्या समझते है कि बूंदी का यह कृत्रिम दुर्ग भी बिना रक्त बहाये टूट जाएगा ? यह बूंदी मेरी जन्मभूमि है ? मैं जीते जी इसका अपमान न होने दूंगा। कुम्भा यह कह कर कृत्रिम बूंदी के दुर्ग के द्वार पर जमकर खड़ा हो गया।

इधर राणा ने भी झेंप उतारते हुए कुम्भा को कहा। वीर कुम्भा वास्तव में बूंदी के सूने दुर्ग पर आक्रमण करके तोड़ते हुए बड़ी लज्जा अनुभव हो रही थी। यह अच्छा हुआ कि तुम बूंदी का पक्ष लेने वाले निकल आये। अब यह युद्ध वास्तविकता का रूप धारण कर सकेगा। यहां तुम बूंदी के प्रतिनिधि हो और मैं चित्तौड़ का। अब यह युद्ध हम दोनों में होगा। शेष सेना केवल इस युद्ध की दर्शक होगी। इसके बाद राणा लाखा और कुम्भा का युद्ध हुआ और कुम्भा लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ।

राजस्थान के इतिहास की यह घटना यद्यपि बेसमझी से भरी हुई है। किन्तु इसका पटाक्षेप इस बात का साक्षी है कि मूलरूप से जन्मभूमि और मातृभूमि के सम्मान की भावना हमारे यहां सद

विद्यमान रही है। असली मातृभूमि के सम्मान की तो बात ही क्या है? वीर कुम्भा ने नकली बूंदी के किले की रक्षा के लिए भी अपने प्राण निछावर कर दिये। हां, यह बात दूसरी है कि उस समय मातृभूमि का क्षेत्र बहुत सीमित हो गया। और इसीलिए विवाद और संघर्ष भी बहुत बढ़ गये थे। किन्तु जन्म भू में अटूट श्रद्धा विद्यमान थी अतः यह धारणा नितान्त भ्रामक है कि हम भारतीयों ने मातृभूमि का प्रेम कहीं बाहर से सीखा है। इस प्रसंग में वेद से लेकर राजस्थान के इतिहास तक उद्धरण और उदाहरण देकर यह सिद्ध कर दिया गया है कि यहां उच्चकोटि की पवित्र भावना मातृभूमि के प्रति रही है।

हमें यह भावना सदा अक्षुण्ण रखनी चाहिए और अपनी स्वाधीनता और मातृभूमि की रक्षा के लिए, सदा सर्वस्व होम करने के लिये उद्यत रहना चाहिए।

इस प्रकार इस रचना में वर्णित कर्तव्यों का पालन यदि किया जावे तो निश्चय रूप से यह धरती स्वर्ग का चमत्कृत रूप धारण कर सकती है।

॥ शमित्योम् ॥

प्रातः ७ बजे ९-१-७६
३१ के० एम० मुंशी लेन, नई दिल्ली।



विवाह का आदर्श

गृहस्थाश्रम का लक्षण है, ऐहिक और पारलौकिक सुख प्राप्ति के लिए विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना और नियत काल में यथाविधि ईश्वरोपासना और गृह कृत्य करना एवं सत्य धर्म में ही अपना तन-मन-धन लगाना तथा सन्तानों की उत्पत्ति करना।

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

विवाह इन्द्रिय-सुख के निमित्त नहीं, वरन मानव-वंश को आगे चलाने के लिए है, विवाह का भारतीय आदर्श यही है। समाज में उसी प्रकार के विवाह का प्रसार होता है, जिसमें समाज का अधिक से अधिक कल्याण हो सके। अतः पति पत्नी को समाज और देश के कल्याण साधन के निमित्त अपने व्यक्तिगत आनन्द और सुख को तिलांजलि देने को सदा तत्पर रहना चाहिए।

—विवेकानन्द